UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180850

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 81·3/R28K Accession No. G.H. 179

Author राठी, गोविन्द

Title काकली / 1933

This book should be returned on or before the date last marked below.

काकली

लेखक

कौशलेन्द्र राठौर

सम्पादक

हरिशङ्कर शर्मा

द्वितीय बार
१०००

१९३३

अजिल्द ॥।)
सजिल्द १)

प्रकाशक

चतुर्वेदी-साहित्य-मण्डल,

मैनपुरी।

मुद्रक

सत्यपाल शर्मा,

कान्ति प्रेस, माईथान-आगरा

समर्पण

धूल धूसरित तन छू कर, जो–,
मोद-मत्त बन जाते हैं।
बाल सुलभ क्रीड़ाओं को लख,
जिनके दृग भर आते हैं।
शिशुओं के प्रेमी हैं, जिन को–,
बात तोतली प्यारी है।
बस, उन को ही समुद समर्पित,
यह 'काकली' हमारी है।

"कौशलेन्द्र"

हृदयोद्गार

श्री ठाकुर कौशलेन्द्रसिंह राठौर ने मैनपुरी से यहाँ इस दुरधिगम्य गाँव में पधार कर मुझ पर जो कृपा की उस से मैं अतीव गौरवान्वित हुआ। उनकी इस पुस्तक "काकली" को यत्र-तत्र देख कर मैंने वही आनन्द प्राप्त किया जो इस नाम के शब्दार्थ से सभी सहृदय जनों को प्राप्त होता है। आप में कवित्व का बीज स्पष्ट देख पड़ता है। अनेक विषयों पर सुन्दर शब्दों में अपने भाव व्यक्त करने की जो शक्ति आप में है वह भगवती सरस्वती की आराधना से, आशा है, यथेष्ट विकसित होती जायगी।

दौलतपुर (रायबरेली)
७ जुलाई १९२९

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक का निवेदन

पाठकों की सेवा में श्री कौशलेन्द्रजी की काकली उपस्थित करते हुए हमें हर्ष है। यह पुस्तक प्रथम वार कौशलेन्द्रजी के जीवन-काल ही में प्रकाशित होगई थी। परन्तु उनके साथ ही 'काकली' की सब प्रतियाँ भी उस हृदय-द्रावक अग्निदाह में ही भस्म होगई थीं। कौशलेन्द्रजी के मित्रों तथा उनकी कविता के प्रेमियों में उसके लिए चाह उत्पन्न हुई और उसकी आवश्यकता उनके मित्र-मंडल को अधिकाधिक अनुभव होने लगी।

मैनपुरी में ही कौशलेन्द्रजी के काव्य-उपवन का विकास हुआ था अतः मैनपुरी के मित्र-मण्डल को ही उनकी कीर्ति-कौमुदी के रक्षार्थ सब से आगे होना चाहिये था। अतः कौशलेन्द्रजी के साहित्यिक मित्रों तथा उनकी कविता के प्रेमियों ने चतुर्वेदी-साहित्य-मण्डल के नाम से इसके पुनः प्रकाशन का कार्य हाथ में लिया है।

हमारे मण्डल का यह विचार था कि कौशलेन्द्रजी के समय में प्रकाशित काकली के संस्करण से यह संस्करण उत्तम रूप में निकले जिससे कौशलेन्द्रजी की आत्मा के प्रति अन्याय न हो। हम इसमें काकली के प्रकाशन के बाद की सब कविताएँ और इसके पूर्व की उपलब्ध सब सामग्री देना चाहते थे। परन्तु उनका संग्रह बड़ा कठिन कार्य था। इन अभिलाषाओं की पूर्ति में हम कहाँ तक सफल हुए हैं इसका निर्णय पाठकों के ही आधीन है।

यह संस्करण अपने अनेकों मित्रों के प्रबल आग्रह और अनुरोध के कारण हम बहुत शीघ्रता से निकाल रहे हैं। अतः

हमसे भूलों का हो जाना तो सम्भव ही है, परन्तु सहृदय पाठकगण उनकी ओर हमें सचेत करेंगे, जिससे हम अगले संस्करण में उनको दूर कर सकें।

निवेदन समाप्त करने के पूर्व हम बन्धुवर मधुसूदनजी विशारद तथा मोतीलालजी चतुर्वेदी को अवश्य धन्यवाद देंगे जिनके प्रबल अनुरोध और सदपरामर्श से मंडल यह कार्य अपने हाथ में ले सका।

हम अत्यन्त उपकृत हैं कविरत्न पंडित हरिशङ्कर जी शर्मा के जिन्होंने इसका सम्पादन करके हमें अनुगृहीत किया है। श्री मुन्नासिंहजी वैश्य तथा श्री श्यामसुन्दरजी मिश्र बी० ए० भी हमारे धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी कृपा से हम कौशलेन्द्रजी का वही ब्लाक प्राप्त कर सके जो पहिले संस्करण में छपा था।

हमारा धन्यवाद श्रीमती कौशलेन्द्रजी को भी है जिन्होंने उदारता पूर्वक हमें इसको प्रकाशन का अधिकार दिया है। उन मित्रों को भी धन्यवाद है जिनकी सहायता से हम इस आज्ञा को प्राप्त कर सके हैं।

अन्त में हम चतुर्वेदी साहित्य-मण्डल की प्रकाशन उप समिति के सदस्यों को उनके सहयोग के लिये और विशेषतः मण्डल के सम्पादक त्रय श्री ओंकारनाथ जी पांडेय विशारद, श्री उमरावसिंहजी पांडेय विशारद, श्री मधुसूदनदासजी चतुर्वेदी बी० एस-सी० विशारद को पाठ्य सामग्री के संकलन-संग्रह एवं संशोधन के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

श्रीचतुर्वेदी साहित्य-मण्डल
मैनपुरी
दीपावली संवत् १९९०

गङ्गाधर मिश्र
संयोजक।

——:*:——

सम्पादकीय निवेदन

सुहृद्वर स्वर्गीय श्रीकौशलेन्द्रजी की 'काकली' पाठकों की सेवा में सादर और सप्रेम समर्पित की जाती है। इस संस्करण में कौशलेन्द्रजी की कविता अविकल रूप से प्रकाशित की गई है। उसमें कुछ घटत-बढ़त करना अनधिकार चेष्टा समझी गई। हमारा विचार है कि किसी कवि के उद्‌गार अपने असली रूप ही में पाठकों तक पहुँचाए जाने चाहिएँ। उनमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करना उचित नहीं जान पड़ता। श्रीकौशलेन्द्रजी के जीवन में छपी 'काकली' की अपेक्षा इस संस्करण में कुछ विशेषता करदी गई है। अर्थात् महाश्वेता आदि कौशलेन्द्रजी की कई अप्रकाशित रचनाओं को भी इस संस्करण में स्थान दिया गया है। कवि की संक्षिप्त जीवनी और श्री हृदयेशजी के महत्त्व-पूर्ण लेख ने तो इस पुस्तक के गौरव को बहुत कुछ बढ़ा दिया है। हमें हर्ष है कि आज एक स्वर्गीय कवि की नष्ट-प्राय कविता सहृदय साहित्य-समाज के सम्मुख प्रस्तुत की जा रही है। आशा है, इससे कविता-प्रेमियों का मनोरञ्जन होगा। इस संस्करण के प्रकाशन में श्री पं० मधुसूदनदासजी चतुर्वेदी बी० एस-सी० ने सब से अधिक प्रयत्न किया है। सच तो यह है कि यदि चतुर्वेदीजी इतना उद्योग न करते तो 'काकली' प्रेस का मुँह ही न देख सकती। इसके लिए चतुर्वेदीजी को जितना धन्यवाद दिया जाय थोड़ा है।

आगरा,
देवोत्थान, १९९०

हरिशङ्कर शर्मा

श्रीयुत कौशलेन्द्र जी राठौर हिन्दी के उत्साही, होनहार और भावुक कवि हैं। उनकी रचनाएँ हिन्दी के मासिकपत्रों में प्रायः निकला करती हैं। 'माधुरी' पत्रिका पर राठौर जी की विशेष कृपा है और उसमें आप कुछ न कुछ ज़रूर लिखते रहते हैं। इनकी रचनाओं में भाषा की स्वच्छता, मन पर प्रभाव डालने वाली स्वाभाविकता एवं सुरुचिपूर्ण विचारों में सहृदयता की अनोखी छाप रहती है। इन्हीं कारणों से कौशलेन्द्रजी राठौर की कविता लोकप्रिय भी हो रही है। ठाकुर साहब की रचनाओं मे नये भाव तो रहते ही हैं साथ ही पुराने भावों से लाभान्वित होने में भी उन्हें संकोच नहीं है। इस प्रकार से उनकी रचनाओं में नूतन और पुरातन का समन्वय भी सुन्दर रीति से हो जाता है। मेरे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि आपकी कविताओं में मौलिकता का अभाव है। असल बात तो यह है कि आपकी रचनाओं पर मौलिकता का गम्भीर प्रभाव है। एक बात और है ठाकुर साहब केवल 'प्रोपैगैंडिस्ट' कवि नहीं हैं। समय-प्रवाह के अनुसार विषय-विशेष का प्रचार करने के लिये ही आपकी लेखनी संचालित नहीं होती है वरन् हृदय की प्रेरणा से उठने वाले सुकुमार भावों को ही आप अपने पद्यों में आश्रय देते

हैं। इस कारण से आपकी कविता में अनेक अंशों में ऐसी सामग्री सुलभ है जिसका महत्त्व स्थायी है। इस गुण के कारण आपकी कविता का संरक्षण और संग्रह उचित जान पड़ता है। हर्ष की बात है श्रीयुत रामसिंह जी राठौर ने 'काकली' नामक इस संग्रह में ठाकुर साहब की प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं का सुन्दर संकलन किया है। खेद है, समयाभाव के कारण मैं इस छोटी-सी भूमिका में श्रीयुत कौशलेन्द्रजी की कविताओं पर विस्तारपूर्वक अपने विचार प्रकट करने में असमर्थ हूँ, परन्तु व्यापक रूप से उनकी रचनाओं में जो विशेषताएँ मुझे उपलब्ध होती हैं उनका संक्षिप्त दिग्दर्शन मैंने ऊपर कर दिया है। अपनी सम्मति की पुष्टि में मैं यहाँ पर कुछ उदाहरण भी देना उचित समझता हूँ:—

दुःख का वर्णन करते हुए राठौर जी 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर' सभी को दुखी देखते हैं। उनका पवन दुख से कम्पित है। उसी कारण से पृथ्वी पर ख़ाक उड़ रही है। दुख से ही त्रस्त आग अपने आप जली जाती है और आकाश बेचारा आहों के घात-प्रतिघात से नीला पड़ गया है। जल की शीतलता भी विवश है। उसका बल भी क्षीण हो गया है। वह भी पिपासा का कवल बन गया है। कैसा भीषण दुख है। और इन्हीं पंचतत्वों के दुःख पराभूत समाज में ईश्वर ने कवि को भी डाल दिया है। क्या करुणानिधान को यही उचित था? फिर कवि उन्हें उपालंभ क्यों न दे?

देखिये राठौरजी की यह उक्ति कितनी सुन्दर है:—

काँपता पवन अविराम पंथ चलने से;
धरा हुई धूल भार जग का उठाने से।
जलती अनल अपने ही में निरंतर है,
नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने से॥
कौशलेन्द्र जल भी बना कवल प्यास का है,
बच सका कौन जगती में दुख पाने से।
डाल दिया मुझको कहाँ है हाय भगवान,
दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने से॥

उपर्युक्त छन्द में हृदय पर चोट करने वाली एक सुन्दर उक्ति का समर्थन कैसे अच्छे ढँग से हुआ है, इसके साक्षी सहृदयों के हृदय ही हो सकते हैं। पद्य मे न तो कृत्रिमता का घटाटोप है और न मस्तिष्क को कष्ट देने वाली क्लिष्ट कल्पना। जो बात कही गई है उसका निर्वाह नितान्त स्वाभाविक ढँग से स्पष्ट और स्वच्छ भाषा में किया गया है। गम्भीर वेदना का विकास मार्मिकता अथवा मौलिकता मंडित है। मुझे तो इस छन्द में सच्ची कविता के दर्शन होते हैं। एक उदाहरण और लीजिये:—

दुखिया अनाथ दाने दाने को तरस रहे,
अधम विलासियों को गाड़ दिया धन में।
शासक सबल सुख भोग रहे महलों में,
प्रेम के पुजारी भटकाए वन वन में॥

कौशलेन्द्र बड़े हो बड़ी ही है तुम्हारी लीला,
कौन कह कर पड़े भारी उलझन में।
खोलता मैं किन्तु सारी कलई तुम्हारी नाथ,
बैठे जो न होते तुम मानस-भवन में॥

उपर्युक्त पद्य में कवि ने ईश्वरकृत सांसारिक विषमता का जो परिचय दिया है वह बड़ा ही सरल और सरस है। भाव में नवीनता एवं मौलिकता नहीं है। इसी बात को अनेक पुराने कवियों ने बड़ी ही मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है पर राठौरजी का अकृत्रिम वर्णन भी बड़ा ही आकर्षक है। हृदय पर इस वर्णन के पढ़ने से जो प्रभाव उत्पन्न होता है वह शीघ्र नहीं भुलाया जा सकता। 'नाथ' की 'सारी कलई' न खोलने का जो बहाना कवि ने किया है उसमें एक प्रकार की विनोद-पूर्ण प्रगाढ़ भक्ति की भावमयी झाँकी है।

मेरा विश्वास है कि हिन्दी-संसार में 'काकली' का आदर होगा और श्रीयुत कौशलेन्द्र जी राठौर अपनी स्वाभाविक कवित्व-शक्ति से प्रेरित होकर साहित्य-मन्दिर को अपनी कविता-सुमनावली से निरन्तर भूषित करते रहेंगे। तथास्तु।

लखनऊ
श्रावण शुक्ला १०, बुधवार
संवत् १९८६ विक्रमीय।

कृष्णविहारी मिश्र

विषय			पृष्ठ
१—कवि-परिचय	...	...	१–१५
२—कौशलेन्द्रजी का काव्य	...	...	१७–३२
१—हिरानी है	...	...	१
२—दुख	...	...	२
३—जिज्ञासा	...	...	३
४—उनसे	...	...	४
५—मेरी दशा	...	...	५
६—प्रेम के छींटे	...	...	६
७—प्रेम-प्रलाप	...	...	८
८—लोचनों के प्रति	...	...	९
९—मन के प्रति	...	...	१०
१०—मरणोन्मुखी	...	...	११
११—मिलन-मनोरथ	...	...	१३
१२—बधिकसे	...	...	१५
१३—मिलन	...	...	१७
१४—कपोलस्थ श्रम सीकर	...	...	१८
१५—सूक्ति-सुधा	...	...	१९
१६—हृदयोद्गार	...	...	२०
१७—कामना	...	...	२२
१८—प्रणयोपालम्भ	...	...	२३
१९—मेरा परिचय	...	...	२४
२०—वियोगाधिक्य	...	...	२५
२१—चिन्ता	...	...	२६

विषय

२२—सखी के प्रति ... ...
२३—करुणा-कादम्बिनी ... ...
२४—दीन ... ...
२५—मित्र-महिमा ... ...
२६—सूक्ति-सुधा-विन्दु ... ...
२७—चित्तचोर से ... ...
२८—प्रतीक्षा ... ...
२९—दुखिया ... ...
३०—विदा ... ...
३१—प्रेमी ... ...
३२—विरह-निवेदन ... ...
३३—हरिचन्द की ... ...
३४—घनश्याम देखि ... ...
३५—प्रणय-नीति ... ...
३६—निठुराई है ... ...
३७—सुकुमार हैं ... ...
३८—प्रणयोपालम्भ ... ...
३९—आशा ... ...
४०—भावोत्साहन ... ...
४१—परछाईं ... ...
४२—छाये हैं ... ...
४३—निहारी है ... ...
४४—ईश्वर के प्रति ... ...
४५—आत्मानुभूति ... ...
४६—महाश्वेता ... ...

——*——

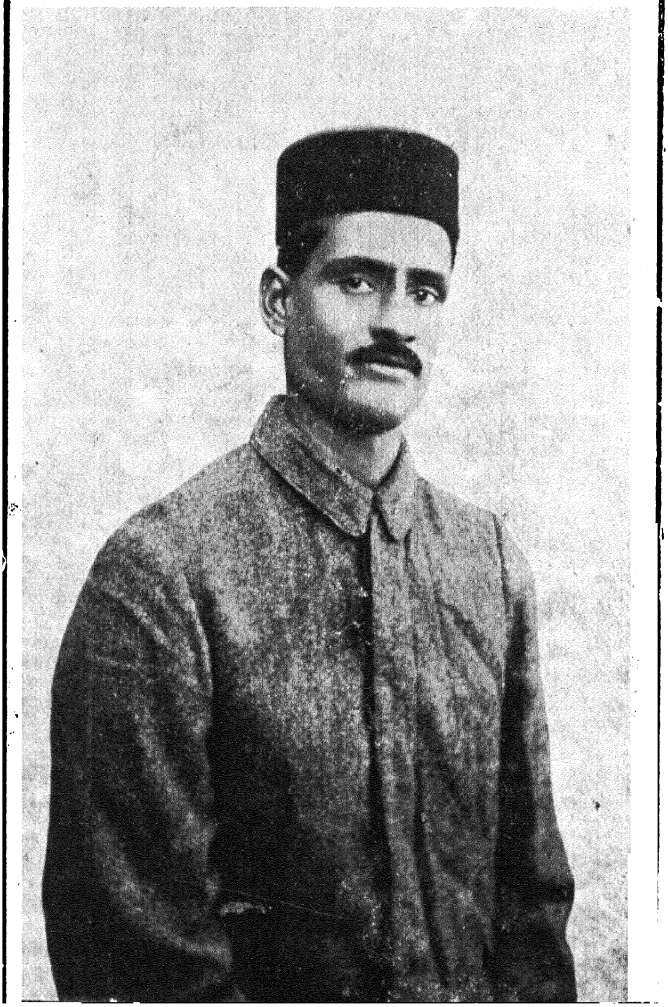

श्री० कौशलेन्द्र जी राठौर

कवि-परिचय

१—वंश-विवरण

एटा प्रान्त में बी० बी० सी० आई० रेलवे के रुदायन स्टेशन के निकट राजा का रामपुर नामक गाँव प्राचीन काल से राठौर क्षत्रियों के एक छोटे राज्य की राजधानी रहा है। इस राज्य के बार-बार भागों और उपविभागों में बँटने से कई अन्य छोटे-छोटे राज्यों और ज़मीदारियों की उत्पत्ति होती रही है। इसी राज-वंश में जन्म लेने वाले उदैचन्द अब से कुछ शताब्दी पहले खिमसेपुर जिला फर्रुखाबाद के हिस्से के अधिकारी हुए। खिमसेपुर के विभाजित होने पर उदैचन्द के पौत्र केसराज नवादा ग्राम के ज़मीदार हुए, और उनके पौत्र तीखाराय डालूपुर में आए।

डालूपुर के राठौर क्षत्रिय इन ही के वंशज हैं। अतएव वहाँ के सभी निवासियों को हम अपने चरित्र-नायक का कुटुम्बी मान सकते हैं। तीखाराय की सातवीं पीढ़ी में कविवर 'कौशलेन्द्र' का जन्म हुआ था।

आज कल इस कुटुम्ब में कविवर के सब से अधिक निकट-सम्बन्धी श्रीरामभरोसे सिंह हैं। कौशलेन्द्रजी के एक शिष्य बनवारीसिंह और 'काकली' के प्रकाशक श्री रामसिंह इन से चार पुश्त पहले ही अलग हो जाते हैं। निम्नाङ्कित वंश-वृक्ष (शिजरा) से हमें यह सब बातें सरलता से ज्ञात हो सकेंगी।

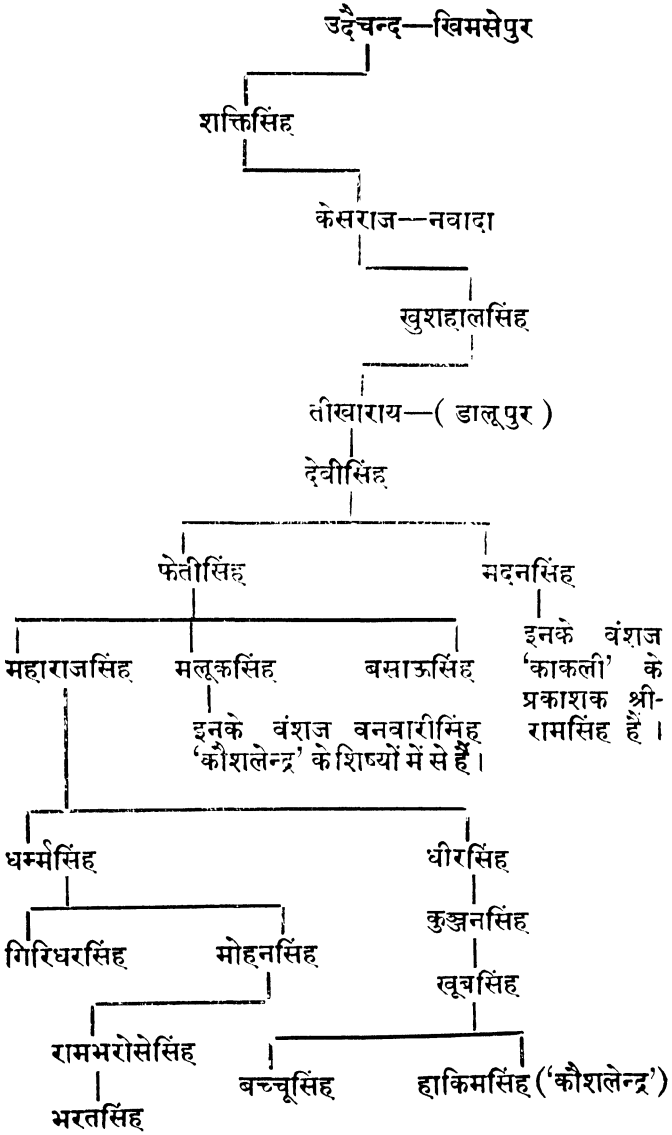
उदैचन्द—खिमसेपुर
शक्तिसिंह
केसराज—नवादा
खुशहालसिंह
तीखाराय—(डालूपुर)
देवीसिंह
फेतीसिंह
मदनसिंह
महाराजसिंह
मलूकसिंह
बसाऊसिंह
इनके वंशज 'काकली' के प्रकाशक श्री-रामसिंह हैं।
इनके वंशज वनवारीसिंह 'कौशलेन्द्र' के शिष्यों में से हैं।
धर्म्मसिंह
धीरसिंह
गिरिधरसिंह
मोहनसिंह
कुञ्जनसिंह
खूबसिंह
रामभरोसेसिंह
बच्चूसिंह
हाकिमसिंह ('कौशलेन्द्र')
भरतसिंह

२–माता-पिता

'कौशलेन्द्र' के पिता खूबसिंह का जन्म १८७७ ई० के आषाढ़ में हुआ था। आप फ़ारसी तथा उर्दू के अच्छे विद्वान थे। १३ वर्ष की अवस्था में सन् १८९० में आपका विवाह नेरी (सीतापुर) के कुं० रामेश्वर बख्शसिंह की बहिन से हुआ था। ठा० खूबसिंह दिवाली जि० शाहजहाँपुर में बहुत समय तक रहे, कभी-कभी आप डालूपुर भी रहा करते थे। यहाँ की ज़मींदारी की देखरेख का भार भी आप ही के ऊपर था। आप १९२० ई० में परलोकवासी हुए। कविवर की माता अपने पति के मरणोपरान्त ६ वर्ष और जीवित रहीं। अर्थात् 'कौशलेन्द्र' के मैनपुरी पहुँचने पर सन् १९२६ ई० में वह भी स्वर्ग सिधार गईं।

३–जन्म

खूबसिंह के दो पुत्र उत्पन्न हुए। बच्चूसिंह और हाकिमसिंह (उपनाम कौशलेन्द्र)। बच्चूसिंह का जन्म संवत् १९५३ सन् १८९६ में और कविवर कौशलेन्द्रजी का जन्म सं० १९५६ सन् १८९९ में हुआ। ब्रह्मचारी 'इन्द्र' ने 'त्रिवेणी' में आपकी जन्म-तिथि २० सितम्बर १९०१ लिखी है। बीमा कम्पनी यह तिथि में २ अक्टूबर १९०२ लिखी है। परन्तु गाँव में पूछ-ताछ करने पर यह निश्चित होता है कि हाकिमसिंह का जन्म श्रावण शुक्ल १९५६ में हुआ था। 'काकली' के प्रकाशक श्री रामसिंह आप से एक मास छोटे हैं।

४–प्रारम्भिक शिक्षा और बाल्यकाल

कौशलेन्द्र के जन्म के समय डालूपुर गाँव में डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का मदर्सा न था परन्तु १९१२ से वहाँ एक मदर्सा खुल गया है। इससे पहले गाँव के लड़कों को कानपुर के एक लालाजी उर्दू पढ़ाया करते थे क्योंकि उस समय ज़मींदारी के काम में उर्दू

ही की तूती बोलती थी। कु० हाकिमसिंह को भी कुछ वर्षों तक इन्हीं लालाजी की शागिर्दी करनी पड़ी। इस भाँति घर पर दूसरे दर्जे की पढ़ाई समाप्त कर लेने पर १६१० ई० में हाकिम-सिंह का नाम नवीगंज के मदर्से में लिखवाया गया। सन् १६११ में आप चौथी कक्षा की परीक्षा देने वाले थे परन्तु उस समय के मास्टरों की धींगा धींगी से वे ऐसा न कर सके। यह तो कदाचित् सभी जानते हैं कि ग्राम में पण्डितजी या मुंशीजी रुपया न मिलने और मिलने पर पास का फेल और फेल का पास कर देते हैं। कौशलेन्द्रजी के सम्बन्ध में भी कदाचित् यही कुछ रहस्य था।

आज कल डालूपुर के मदर्से में मा० शंकर सरन नायब मुदर्रिस 'कौशलेन्द्र' जी के सहपाठी हैं। उनका कहना है कि हाकिम पढ़ने लिखने की ओर कम ध्यान देते थे पर लड़ने भिड़ने को मुस्तैद रहते थे। कुश्ती में इन्हें टाँग के पेच बहुत याद थे। यहाँ तक कि टाँग के ज़ोर से अच्छी मज़बूत लकड़ी तोड़ देते थे। गाँव के अन्य लोग हाकिमसिंह की गणित सम्बन्धिनी योग्यता की बहुत प्रशंसा करते हैं।

हाकिमसिंह ने सन् १६११ में नबीगंज का स्कूल छोड़ दिया। इसी समय छिब्रामऊ में अँग्रेज़ी भाषा की एक पाठशाला खुली। उन्होंने इस पाठशाला में १॥ वर्ष अँग्रेज़ी पढ़ी और छठवीं कक्षा की योग्यता प्राप्त करली। सन् १६१३ में आपने बलवन्त राजपूत हाईस्कूल की सातवीं कक्षा में पढ़ना प्रारम्भ किया।

५—पहला विवाह

जिस समय हाकिमसिंह बलवन्त राजपूत हाई स्कूल में पढ़ रहे थे उस समय ग्राम पखरिया (हरदोई) से आपका विवाह हुआ। परन्तु यह पत्नी आपका बहुत समय तक साथ न दे सकी।

"जीती कुछ और देख लेती सुख आपका तो,
खलती न आज कठिनाई मर जाने की।"

पर विधाता को यह स्वीकार न था। सन् १६१७ में कविवर को पत्नी-वियोग सहना पड़ा। उसके शोकोद्गार कई वर्षों के पश्चात् भी मरणोन्मुखी में मिलते हैं। कविवर अवश्य ही इन्हें प्यार करते थे अन्यथा वैवाहिक जीवन में 'मरणोन्मुखी' की स्मृति की कहाँ गुञ्जायश थी।

६–बलवन्त-राजपूत स्कूल में–

हम पहले कह चुके हैं कि बलवन्त-राजपूत स्कूल में कविवर ने सन् १६१३ में नाम लिखवाया था। लोगों को आशा थी कि अपने भाई बच्चूसिंह की भाँति यह भी ग्रेजुएट होंगे पर इनकी प्रतिभा का विकास किसी और ही ढंग से होने को था। आपके उद्दण्ड स्वभाव ने आपको आठवीं श्रेणी से आगे बढ़ने ही न दिया।

क्षत्रियों के बालक-विवाह हो जाने पर वैसे भी कम पढ़ते हैं, परन्तु इनके स्कूल छोड़ने का कारण कुछ और ही था। सन् १६१४ में बलवन्त-राजपूत स्कूल के लड़कों ने मिलकर स्कूल के हैडमास्टर की आज्ञा के विरुद्ध हड़ताल की। इन्हीं दिनों वहाँ के हैडमास्टर साहब अपने बंगले में मरे पाए गए। कुछ लोगों का ख्याल था कि इन सब घटनाओं में हाकिमसिंह का भी हाथ था। अतएव आपका १॥ साल के लिए Rustication होगया और आपका अँग्रेजी अध्ययन वहीं रुक गया।

७–स्वाध्याय. (१६१४-१७)

स्कूल छूट जाने पर हाकिमसिंह का सारा समय अपनी जमींदारी की देख-रेख में डालूपुर ही में बीतने लगा। आप अपने बचे हुए समय को बेकार न जाने देते थे। इन दिनों आपने

कविता-सम्बन्धी ग्रन्थों का अवलोकन किया। जब कभी आप फर्रुखाबाद, मैनपुरी अथवा आगरे जाते तो कोई न कोई नई पुस्तक (रीति-ग्रन्थ) अवश्य लाते थे। 'काकली' के प्रकाशक श्री रामसिंह का और कौशलेन्द्रजी का बहुत साथ रहा है, अतएव उनको मालूम है कि उन दिनों कविवर अवकाश मिलने पर अपने स्वाध्याय ही में संलग्न रहते थे।

८—कविता का प्रथम प्रयास १९१७

इस आयु में हाकिम सिंह के विचार आर्यसमाज की ओर झुके। आप अपने कुटुम्बियों और गाँव वालों को शिवालय की उपासना करते देख उनका उपहास किया करते थे। इसी वर्ष महादेव-निन्दा के कुछ कवित्त आपने बनाए। यही आपकी कविता का श्रीगणेश था। गाँव के लोग बराबर हाकिमसिंहजी से कहते रहते कि ऐसी कविता मत लिखा करो। एक दिन आपने शिव-निन्दा का एक कवित्त लिखकर लोगों को सुनाया, नित्य की भाँति लोगों ने शिवजी की बड़ाई की और इन्हें समझाया कि ऐसा करने से शिवजी अप्रसन्न होकर तुम्हें दण्ड दे देंगे। पर आपने इस पर ध्यान न दिया। दैव योग से उसी दिन कुश्ती लड़ने में, आपकी बाँह की हड्डी टूट गई, तबसे आपको शिवजी पर विश्वास हो गया। एक कवित्त भी आपने इस सम्बन्ध में लिखा था जिसका आशय यह था कि शिवजी की निन्दा की 'तिहि कारण मो भुज भोरई टूटी'। बाँह टूटने पर दो मास तक आपको अपने पिताजी के साथ इलाज के लिए बनारस रहना पड़ा। वहाँ से आराम होने पर आप डालूपुर लौट आए।

९—उर्दू की कविता १९१८-१९.

इस समय श्रीहाकिमसिंह को उर्दू की शेर लिखने का शौक़ लगा। उर्दू आपकी पहली ज़बान थी, साथ ही ईश्वर प्रदत्त

कवित्व-शक्ति थी ही। इस पर भी यदि उर्दू-साहित्य को कुछ न देते तो आश्चर्य ही था। हुआ भी आश्चर्य ही, उर्दू में आपने अनेकों अशयार लिखे—महाभारत के बहुत से भाव उर्दू के छन्दों में कर दिये पर उर्दू साहित्य को आपसे कुछ न मिल सका। ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता कि कविवर को उर्दू रचना से कब और कैसे घृणा हो गई। किन्तु सन् १९२३ ई० की आपकी उर्दू बनाम हिन्दी रचना से यह प्रकट होता है कि उस समय से बहुत पहले ही वे उर्दू में लिखना बन्द कर चुके थे। मैंने कविजी से दो एक बार अपनी उर्दू-रचना सुनाने के लिए अनुरोध भी किया पर उन्होंने उसे न सुनाया हाँ फ़ारसी और उर्दू के अन्य अन्य कवियों की रचनाएँ तो कभी-कभी सुना भी दिया करते थे।

ज़ेबुन्निसा का नीचे लिखा शेर उन्होंने कई बार सुनाया था—

शबे मानद शबे मानद, शबे दीगर नमी मानद।

कौशलेन्द्र के डालूपुर निवासी उर्दू जानने वाले नवयुवक मित्र उनकी रचनाओं की बड़ी प्रशंसा करते हैं। श्रीरामसिंह तो श्री हाकिमसिंह के 'रुकमिनी वर्णन' पर अब तक मुग्ध हैं।

१०—नेरी में ६ मास—१९१८

१९१८ ई० में डालूपुर में इनफ्लूएन्ज़ा का प्रकोप हुआ। इस आकस्मिक विपत्ति से बचने के लिए हाकिमसिंह अपनी ननिहाल नेरी (सीतापुर) चले गये। यहीं से हम हाकिमसिंह को 'कौशलेन्द्र' के रूप में पाते हैं। नेरी के आस-पास उन दिनों सुकवियों का अच्छा समूह था। दासापुर में श्री बलदेवजी रहते थे जिनको कविवर अपना गुरु मानते रहे। नेरी के किन्हीं मामूँज के विषय में भी आप कहा करते थे कि वे शृंगार रस की कविता करने से आप को रोकते थे। इन ६ महीनों में

कौशलेन्द्रजी नेरी तथा उस के समीपवर्ती कवियों से अपना सम्बन्ध जोड़ आए और समय-समय पर ननिहाल जाकर उन से मिलते रहे। कविवर को बहुत से लोग अब तक सीतापुर ज़िले के कवियों में गिनते हैं।

११–दूसरा विवाह––१९१८

सन् १९१८ की समाप्ति होते-होते कविवर का दूसरा विवाह निकटवर्ती सैदपुर ग्राम ज़िला मैनपुरी से हुआ। कौशलेन्द्रजी की पत्नी आपकी खेदजनक मृत्यु के समय घर-पर उपस्थित नहीं थीं। अतएव उस भयङ्कर अग्निकाण्ड से घर भर में केवल वही बच सकीं। वे सैदपुर में अपने बन्धु श्री तेजसिंह के साथ रहती हैं। डालूपुर वालों के साथ आपका दायभाग पर मुक़द्दमा चला था, अतएव आपने अपने पति-परिवार से सारा सम्बन्ध तोड़ दिया।

१२–'प्रताप'-सम्पादक से–१९२०–२१

अब 'कौशलेन्द्र'जी साप्ताहिक पत्रों में प्रकाशित होने योग्य रचनाएँ करने लगे थे। पर कुछ सम्पादक लोग विकासोन्मुख पौधों को अपने कृपा-नीर से सींचना 'कसरे-शान' समझते हैं। कविवर ने अपनी कई रचनाएँ 'प्रताप' में प्रकाशनार्थ भेजीं पर वहाँ से बार-बार पत्र भेजने पर भी कोई उत्तर न मिला। 'प्रताप' के उपसम्पादक थे श्री श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल। अतएव कविवर ने एक उपालम्भ लिख कर उन को भेजा। वह ग्राम में पूरा तो किसी को याद न था पर श्रीबनवरीसिंह को कुछ पंक्तियाँ अवश्य स्मरण थीं जो मैंने उन से लिख लीं। ये पंक्तियाँ पाठकों के अवलोकनार्थ यहाँ उद्धृत की जती हैं। आशा है, श्री श्रीकृष्णदत्तजी पालीवालजी स्वर्गीय कविके इन उद्गारों का बुरा न मानेंगे।

श्री प्रताप के सम्पादक श्रीकृष्णदत्तजी पालीवाल।
कविवर नागर काव्य गुणागर-द्विजवर विद्वरी विशाल॥
भेजे अमित लेख सेवा में यथाशक्ति उत्तम अभिराम।

\+ + + सरल माधुरी मय सललाम॥
छापे नहीं किन्तु वे तुमने करके हा मेरा अपमान।

\+ + + + +

या तो लेख छापने पर कुछ टैक्स मात्र ठहराया हो।
किम्बा कोई नया सर्कूलर तुमने स्वयं बनाया हो॥
मित्रों के अतिरिक्त न जिसमें स्वत्त्व किसी ने पाया हो।

\+ + + + +

बनवारी सिंह का ख्याल है कि प्रताप के सहकारी सम्पादक पर इन पंक्तियों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। 'प्रताप' व वृन्दावन से निकलने वाले 'प्रेम' में आप की रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं।

१३–'मोहन' की स्कीम––१९२२

इसी समय डालूपुर के निकट रहने वाले श्री हरिश्चन्द्र देव वर्मा 'चातक' से आपका विशेष परिचय हो गया। दोनों मिलकर एक उच्च कोटि का मासिक पत्र निकालना चाहते थे। उसका मुखपृष्ठ तथा ध्येय सम्बन्धी छन्द बना कर तैयार कर लिया था। राजा साहब तिर्वा से सहायता की पूरी आशा थी।

कहा जाता है कि चातकजी और कौशलेन्द्रजी राजा साहब तिर्वा के यहाँ गए, पर वहाँ उनका उचित आदर नहीं हुआ अतएव वह वहाँ से अत्यन्त रुष्ट होकर लौट आए। फलतः 'मोहन' निकालने की योजना सदा के लिए स्थगित कर देनी पड़ी।

१४–प्रतिभा-प्रकाश [१९२३–२५]

कविवर 'कौशलेन्द्र' का सुयश-सौरभ बड़े वेग से फैलने लगा। इधर-उधर होने वाले कवि-सम्मेलन बिना आपके पधारे सफल न होते थे। १९२४ में दयानन्द-बोधोत्सव के समय होने वाले कवि-सम्मेलन में आप आगरा पधारे थे। मैंनपुरी में उसी साल श्री हरिशङ्कर शर्मा के सभापतित्त्व में जो कवि-सम्मेलन हुआ था उसमें आपने 'उर्दू बनाम हिन्दी' शीर्षक रचना पढ़ी थी। इस समय आपकी रचनाएँ 'सुधा' और 'माधुरी' में निकलने लगी थीं। 'मित्र-महिमा' की प्रशंसा में कई साहित्य-मर्मज्ञों ने उनके पास पत्र भेजे थे।

१५–मैनपुरी में–[१९२६–३०]

दिसम्बर सन १९२५ में कविवर के भाई श्री बच्चूसिंहजी राजासाहब मैनपुरी के यहाँ (मैनेजर) नायब के पद पर प्रतिष्ठित हुए। उसी समय कविवर 'कौशलेन्द्र' भी मैनपुरी में आकर रहने लगे। इस समय से पहले आपका मैनपुरी के साहित्यिज्ञों से कोई परिचय न था। फ़र्वरी सन् १९२६ के सम्मेलन में आपने अपनी 'मिलन-मनोरथ' रचना सुनाई और उसके पश्चात् सन् १९३० तक बराबर मैनपुरी के सभी साहित्यिक सम्मेलनों में भाग लेते रहे। बिना आपके पधारे वहाँ कोई कवि-सम्मेलन सफल न होता था। सम्मेलन की समाप्ति पर एक एक घण्टे तक जनता आपकी रचनाऐं मंत्र-मुग्ध-सी होकर सुना करती थी। जिसने एक बार भी उनसे कविता सुनली वह उनका ही हो जाता था। श्री माथुर चतुर्वेदी पुस्तकालय की साहित्य-गोष्ठी के वे सदस्य थे—आपने पालीवाल-ब्रह्मोदय के विशेषांक का सम्पादन किया था।

मैनपुरी के बाहर भी आपका भारी सम्मान था। पं० कृष्ण-बिहारी मिश्र, ठा० श्रीगोपालशरणसिंह तथा पं० दुलारेलाल भार्गव से आपका पत्र-व्यवहार होता रहता था। 'सुधा' व 'माधुरी' के इस बीच के थोड़े ही अङ्क ऐसे होंगे जिन में कविवर की कोई हृदय-हारिणी रचना प्रकाशित न हुई हो। इन ४ वर्षों ही में कौशलेन्द्रजी ने हिन्दी-साहित्य में नया युग उपस्थित करने की चेष्टा की। आपकी 'बधिक से' 'मरुणोन्मुखी' 'दुःख' तथा 'दुखिया' इत्यादि सभी सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ इन्हीं ४ वर्षों में लिखी गईं।

बाहर के कवि-सम्मेलनों से सदैव आपको निमंत्रण आया करते। अवकाश मिलने पर आप उनमें पधारते भी थे। सन् १९२९ में आगरा-कालिज-हिन्दी-सभा का जन्म हुआ उस साल एक कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया था। कौशलेन्द्रजी के पधारने से उस सम्मेलन को इतनी सफलता हुई कि लोग अब तक उसे याद करते रहते हैं। उन्हीं दिनों मित्रों ने आपसे अपनी रचनाएँ संग्रह रूप में निकालने का अनुरोध किया। परिणाम स्वरूप सन् १९२९ में आपने काकली की २००० प्रतियाँ प्रकाशित कराईं। 'काकली' की भूमिका पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने लिखी थी और पूज्य पं० महावीर-प्रसादजी द्विवेदी ने उसे अपनी सम्मति से गौरवान्वित किया था। दिसम्बर सन् १९२९ में यह छप कर तैयार हो गई थी, और कुछ परिचितों के पास भेजी भी गई थी।

सन २९ में कौशलेन्द्र जी ने 'महाश्वेता' खण्ड काव्य लिखना प्रारम्भ किया था। इसका कथानक 'कादम्बरी' से लिया गया था। इस काव्य के केवल २८ छन्द ही प्राप्य हैं शेष कविवर के साथ ही चले गए। कौशलेन्द्रजी आधुनिक कवियों की उत्तमोत्तम रचनाओं का एक संग्रह भी तय्यार कर चुके थे परन्तु दुर्भाग्य

वश वह भी अप्रकाशित रह गया। फरवरी सन् १९३० में श्री बच्चूसिंहजी ने मैनपुरी राज्य का कार्य्य संचालन छोड़ दिया, अतएव दोनों बन्धु अपने ग्राम डालूपुर में जाकर रहने लगे।

१६–अंतिम दो मास

फर्वरी से अप्रैल तक कविवर का समय साहित्य-सेवा ही में बीता। उस समय काकली पर आई हुई सम्मतियों ने कविवर को 'महाश्वेता' लिखने के लिए अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। श्री० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डा० गंगानाथ झा, प्रसादजी, गुप्तजी आदि सब ही ने इस प्रोत्साहन में हाथ बँटाया था। 'काकली' पर आई हुई सम्मतियाँ, आधुनिक कविताओं का संग्रह और महाश्वेता सब एक साथ ही प्रेस में जाने को थे पर ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था।

१८–प्रलयङ्कर अग्नि-काण्ड

कौन जानता था कि अप्रेल के अन्त के साथ कौशलेन्द्र का भी अन्त हो जायगा। २८ अप्रेल सन् ३० की बात है। वैसाख की अमावस्या थी। दोपहर का समय था। कविवर का भतीजा मरणासन्न था। डाक्टर आया और रोगी को देखकर चला गया। दोनों बन्धुओं के चहरे उतरे हुए थे। दिन के एक बजे भयङ्कर लू का चलना प्रारम्भ हुआ। गाँव के लोग चौपाल पर नित्य की भाँति एकत्र होगए। कविवर का छोटा भतीजा खेलने के लिए बाहर आगया था। लू से बचाने को कौशलेन्द्र उसे बुलाने आए। बस यही गाँव वालों के लिए उनका अन्तिम दर्शन था। उनके घर में जाने के कुछ ही समय बाद पड़ौस के घर में आग लगी, गाँव वाले लपटों को बुझाने के लिए दौड़े पर प्रचण्ड पवन ने उनकी एक न चलने दी। ज्यों ज्यों अग्नि के बुझाने का प्रयत्न

किया गया त्यों ही त्यों बढ़ती गई। जिन्होने उस दुर्दृश्य को देखा है वे कहते हैं कि आग का एक बड़ा गोला-सा पवन में उड़ा और कविवर के मकान के ऊपर से निकलकर दूसरी ओर के छप्पर पर जा पड़ा।

विचित्र परिस्थिति थी, कविवर का मकान निरापद होने से किसी ने उस ओर ध्यान भी न दिया था। उधर ये लोग अपने बीमार बच्चे को लेकर कहाँ जाते, घर में कोई छप्पर न था, अतएव उनके यहाँ आग लगने की कोई आशंका न की जा सकती थी। लोगों का अनुमान है कि जब धुआँ घर में आने लगा तो दालान के किवाड़ फेर लिए गए। पर इससे त्राण कैसे मिल सकता था। धुआँ दालान में भी घुसने लगा। कोई और उपाय न देख कौशलेन्द्रजी अपने छोटे भतीजे के साथ मकान से बाहर निकलने को चले पर आँगन में धुआँ इतना भरा हुआ था कि वे ड्योढ़ी तक आते आते गिर पड़े। यही हाल भाई बच्चूसिंह तथा बड़े भतीजे का हुआ और उनका नौकर, उनकी भावज और बच्चूसिंहजी के साले का भी दम घुट जाने से देहान्त होगया।

कैसा हृदय-विदारक दृश्य था! गाँव वालों ने जब उस घर के निकट कोई न देखा तो उन्हें बड़ी चिन्ता हुई। पीछे से दीवाल खोदी गई पर अब वहाँ क्या था! कहते हैं कविवर का जनेऊ नहीं जला था, बाल ज्यों के त्यों थे। आधी धोती जिसे वे ओढ़े हुए थे, ज्यों की त्यों थी। इस घर से ८ लाशें एक साथ निकलीं, गाँव के दो आदमी और मरे इस प्रकार कुल १० प्राणियों की आहुति इस अग्नि ने ली। वैसाख की लगी हुई आग फिर बरसात के पानी ही से बुझी। लोगों के दिल बैठ गए। किसी ने बुझाने का परिश्रम न किया। गाँव छोड़-छोड़ कर लोग इधर-उधर चले गये।

जिस कमरे में 'काकली' की प्रतियाँ व अन्य साहित्यिक सामग्री रखी थी जल कर राख हो गया। भगवान् का इसमें क्या आशय था यह समझना कठिन है। कविवर—उनका कुटुम्ब, उनकी कृतियाँ और उनके प्रेमियों के हृदय सभी इस आग की भेंट हो गए। ठा० गोपालशरणसिंह ने इस सम्बन्ध में अपनी मार्मिक वेदना निम्नाङ्कित पंक्तियों द्वारा प्रकट की है।

सोगये सदा के लिये असमय में ही तुम,
'कौशलेन्द्र' तुम्हें कैसी यह नींद आगई।
हो जहाँ वहाँ से इस ओर देख तो लो ज़रा,
कैसी है उदासी मित्र-मण्डली में छा गई॥
पाकर हरी थी जो तुम्हारी प्रतिभा का नीर,
काव्य-वाटिका की वह बेलि मुरझा गई।
बुरा उस आग का हो जो तुम्हें जला गई है,
और आग मेरे दिल में है सुलगा गई॥

१८—कविवर का स्वभाव

आपका स्वभाव बड़ा कोमल था, हृदय उदार तथा स्वच्छ था। आप बड़े ही सज्जन थे। प्रेम के सच्चे उपासक थे, चरित्र आपका निर्मल और दृढ़ था। आपके संयम की प्रशंसा आपके सभी साथी करते थे, किन्तु आप में स्वाभिमान भी प्रथम श्रेणी का ही था। आप अपना अपमान कभी बर्दाश्त न कर सकते थे, इसके लिए वे तुरन्त अपनी वीरोचित क्षत्रिय प्रकृति के अनुसार लड़ने-मरने तक के लिए तैयार हो जाते थे। कविता के अतिरिक्त आपको बन्दूक चलाने का बड़ा शौक़ था। बन्दूक़ की

एक दुर्घटना के कारण आपके दाहिने हाथ की एक और बांए हाथ की दो उँगलियाँ भी बलिदान हो चुकी थीं। राजनीति में आप गरम विचारों के उपासक थे।

"कौशलेन्द्र" जी का कण्ठ स्वर मधुर था और उन्हें गाने का भी शौक़ था। उनके कविता पाठ की प्रणाली आकर्षक एवं रोचक थी। लोचदार गले से कोमल कलेजे की मर्माहत कूक, जब वे सुनाते थे तो श्रोतागण मंत्र मुग्ध की नाईं उस काव्य-सुधा का पान किया करते थे।

१६—उपसंहार

कविवर कौशलेन्द्र अब इस संसार में नहीं हैं। उन की 'काकली' भी यत्र-तत्र उन के परिचितों ही के पास है। उनकी रचना किस कोटि की थी यह हम उन की किसी भी रचना को पढ़ कर जान सकते हैं। जो एक बार भी इसे पढ़ लेगा वह कभी उन्हें भूल नहीं सकता। 'काकली' का नवीन संस्करण आज पाठकों के कर-कमलों में सादर समर्पित किया जाता है। इस में पाठकों को कविवर कौशलेन्द्र की मौलिकता और प्रतिभा का साक्षात्कार करने का अलभ्य अवसर मिलेगा और वे अनुमान कर सकेंगे कि जिस कवि का प्रारम्भ इस उत्तमता और सफलता के साथ हुआ उसके द्वारा—यदि वह अकाल ही में काल-कवलित न हो जाता तो—हिन्दी संसार का कितना बड़ा उपकार होता।

कमतरी
प्रान्त—आगरा
ता० १-११-३३

मधुसूदन दास चतुर्वेदी।

——:*:——

"कौशलेन्द्र" जी का काव्य

[साहित्य-भूषण, कविवर, पाण्डेय हृदयनारायण शर्मा 'हृदयेश' का 'कौशलेन्द्र स्मृति-दिवस' के अवसर पर सभा-पति के पद से दिया हुआ भाषण]

अमीर ख़ुसरो के समय में खड़ी बोली का झरना एक पतली धारा के रूप में प्रवाहित हो रहा था। वह पतली धारा इधर-उधर से जल समेट कर अपना आकार-प्रकार बढ़ाती चली जाती थी। अनेक छोटे-छोटे सोतों का जल आकर उसमें सम्मिलित होता जाता था। सीतल कवि के समय में लगभग सं० १७८० के निकट उपर्युक्त धारा ने और अधिक गम्भीरता धारण कर ली। इसके पश्चात् यह धारा भारतेन्दु के समय में एक विशाल सरिता के रूप में परिवर्तित होगई। भारतेन्दु-काल हिन्दी साहित्य का क्रान्तिकारी युग कहलाता है। क्या गद्य, क्या पद्य सभी विभागों की इस काल में पर्याप्त उन्नति हुई।

भारतेन्दु-काल के पूर्व तक ब्रज-भाषा ही काव्य की प्रमुख भाषा मानी गई। परन्तु भारतेन्दु के समय से खड़ी बोली में भी सुन्दर और सफल कविता होने लगी तथा शनैः शनैः खड़ी बोली ने काव्य-भाषा के पद पर अपना अधिकार जमा लिया। काव्य में भाषा-परिवर्त्तन के साथ ही साथ विषय-भाव-निदर्शन एवं छन्द-योजना में भी परिवर्त्तन होने लगा। भारतेन्दु-काल से पूर्व ब्रज-भाषा कवियों की कविता का विषय, राधाकृष्ण की भक्ति एवं लीलाओं का वर्णन था। भक्ति सम्बन्धिनी कविताओं में, विशुद्ध शृङ्गार रस का उपयोग किया गया है, तथा कवियों के एक बड़े समूह ने नायिका भेद, एवं उसके आगे कुछ दूर तक और बढ़कर

खुले शृंगार का वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन-अधिकतर उन कवियों द्वारा हुए हैं जो राजाओं के आश्रित थे। कविगण विलासप्रिय राजाओं की विषय-वासनाओं को उत्तेजन देने, एवं उन्हें प्रसन्न तथा सन्तुष्ट करने के लिए, उनकी रुचि के अनुकूल काव्य-रचना करते थे। उस समय प्रत्येक दरबार में दो-चार कवियों का रहना अनिवार्य्य-सा था। हिन्दी ही में नहीं, बंगला भाषा में भी, जिसके साहित्य में आज-कल देश, समाज एवं राष्ट्र-सम्बन्धिनी भावनाओं का बाहुल्य है—प्राचीनकाल में व्रजभाषा की सी शृंगारमयी रचनायें बहुतायत से पाई जाती हैं। यहाँ तक कि चण्डीदास जैसा काली का महान भक्त कवि भी बंग-भाषा में अश्लील शृंगारिक रचनायें करता था।

जब से भारत का शासन-सूत्र अँग्रेजों के हाथ आया और अँग्रेजी भाषा का प्रभुत्व तथा अधिकार बढ़ने लगा तब से देशी राज्यों में हिन्दी की सत्ता क्षीण होने लगी, दरबारी कवियों का भाव कम हो गया और अब राज-दरबारों में अलङ्कार और नायिका-भेद के स्थान पर 'लीडर' और 'पायनियर' पढ़े जाने लगे। कवि लोग राजाश्रय से पृथक् होकर अपने-अपने समूह पृथक बनाने लगे। इस दशा में भी इन हिन्दी उपासकों ने कवि-सम्मेलनों द्वारा समस्या-पूर्त्ति का प्रचार करके कविता-धारा को अकाल ही में शुष्क होने से बचा लिया।

साहित्य पर समाज की स्थिति, रंग-ढंग एवं भावों का प्रभाव अवश्य पड़ता है। इस समय भारतीय राष्ट्रियता की बेलि बेग के साथ लहलहा रही थी, अतएव भारतेन्दु-काल से कविता की एक नई धारा और निकली, इसे राष्ट्रिय धारा कहते हैं।

भारत के राष्ट्रिय आन्दोलन में भारतेन्दु के बाद की रचनाएँ सम्मिलित हैं। इस समय के कवियों में भारतेन्दु के बाद

पं० प्रतापनारायण मिश्र ब्राह्मण-सम्पादक, पं० बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, 'आनन्द-कादम्बिनी' सम्पादक, पं० बालकृष्ण भट्ट 'हिन्दी-प्रदीप' सम्पादक, पं० नाथूराम शङ्कर शर्मा 'शङ्कर', पं० श्रीधर पाठक आदि मुख्य हैं।

उपर्युक्त राष्ट्रियधारा से साहित्यिकों की हृदय-तृषा शान्त न हो सकती थी। इसलिए राष्ट्रियधारा के साथ-साथ साहित्यिक धारा भी मन्द गति से कल-कल नाद का मधुर-गुञ्जार करती हुई प्रवाहित हो रही थी।

समस्यापूर्ति के अन्तर्गत मुक्तक-काव्य के लिखने का प्रचार था। इधर खड़ी बोली की उन्नति एवं गति-विधि पर उर्दू-साहित्य का भी काफ़ी प्रभाव पड़ा। उर्दू कविता में मुक्तक-काव्य का प्राधान्य है। 'ग़ज़ल' नामक छन्द में तो उसका प्रत्येक शेर—अर्थ के बिचार से, बिलकुल अलग—अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। उर्दू-ढंग के मुशायरों के समान हिन्दी में भी कवि-सम्मेलन होते थे। उनमें साहित्य के विभिन्न विषयों पर मुक्तक-कविताएँ लिखी जाती थीं। प्राचीन ब्रज-भाषा के भावों के स्थान पर इस खड़ी बोली की नवीन कविता में अनेकानेक विषयों का समावेश होने लगा।

ब्रज-भाषा काव्य में अधिकतर दोहा, चौपाई, सवैया और घनाक्षरी छन्दों का ही प्रयोग हुआ है। खड़ी बोली में नवीन भावों के साथ, नवीन छन्दों का भी प्रयोग हुआ। हिन्दी में कुछ छन्द संस्कृत के तथा कुछ बंगला के भी अवतीर्ण हुए। उर्दू बहरों का प्रयोग भी हिन्दी छन्दों के रूप में किया जाने लगा। अनेक कवि जो पहले उर्दू में रचना करते थे, हिन्दी में कविता करने की ओर आकृष्ट हुए। घनाक्षरी छन्दों का सफल और सुन्दर प्रयोग खड़ी बोली में स्वर्गीय शंकरजी ने किया है। श्री मैथिली शरणजी गुप्त ने भी खड़ी बोली में घनाक्षरी छन्द लिखे हैं परन्तु कुछ

छन्दों को छोड़ कर वे घनाक्षरी लिखने में अधिक कृतकार्य्य नहीं हुए। घनाक्षरी लिखने में ठा० गोपालशरणसिंह बहुत सफल हुए हैं। भाषा और भाव दोनों पर उनका अच्छा अधिकार है। 'शंकरजी' की प्रचलित शैली पर ठा० गोपालशरणसिंह के अतिरिक्त और भी कई कवियों ने अच्छी कविताएँ की हैं। इन में से एक श्री० 'कौशलेन्द्र' राठौर भी हैं। आपकी कविता क्या भाषा, क्या भाव दोनों ही की दृष्टि से सरस और सुन्दर है। आपकी कविता कली अभी खिलने भी न पाई थी कि अचानक काल-पवन के तीव्र झँकोरे ने आकर उसे नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। ऐसे समय में यह शेर याद आता है और दिल में एक टीस-सी उठती है।

'फूल तो दो दिन बहारे जाँ फ़िज़ाँ दिखला गए।
'हसरत' उन ग़ुंचों पै है जो बिन खिले मुरझा गए॥'

कौशलेन्द्र की प्रतिभाकली, निर्जन अरण्य में स्वतः अङ्कुरित हुई, फिर कुछ मुकुलित होकर अपनी अधमुँदी अवस्था में मन्द-मन्द सुरभि बिखेर और लोगों का थोड़ा-सा ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर, अपनी नश्वर ऐहिक लीला समाप्त कर—सदा के लिए अन्तर्धान होगई। लोग चौंकते और ताकते ही रह गए। वह कौन था, कहाँ गया, यह क्या कर गया!

काल-वायु के झँकोरे ने, जब उस अर्ध-विकसित कली को, हिन्दी साहित्योद्यान से नष्ट करने का उपक्रम किया होगा, उस समय कितने ही नीरव कण्ठ अपनी मौन भाषा में चीख़ कर यह कह उठे होंगे:—

न तोड़ अय ! दस्ते गुलचीं
बाग़ में फूलों की कलियों को।
कि इन में कुछ शबाहत
पाई जाती है मेरे दिल की॥

'कौशलेन्द्र' की असामयिक मृत्यु से हिन्दी का बड़ा अहित हुआ। यदि वे अधिक दिन जीवित रहते तो अपने क्षेत्र में बहुत कुछ कार्य कर जाते। कौन जानता था, किसे ख़बर थी कि यह खड़ी बोली की कोकिल, इस मुस्कराती हुई वसन्त ऋतु में, जब सुमन-सौरभ मलयानिल से गले मिल रहा है, अपनी कलित-काकली की एक दो कूक सुनाकर और कोमल कलेजे के अन्दर एक कसक-सी उठा कर चुपचाप साहित्योद्यान से उड़ जायगी, और सहृदय समाज रोता हुआ—यह कहता रह जायगा—'गेलो नाके नो प्राण—सहरे ताहार विच्छेदे।'

"मैं था दुख से मर्माहत—कोयल डाली पर बोली।
छिद गया कलेजा मारी श्रवणों द्वारा बिष गोली॥"

हिन्दी-काव्य-साहित्य में काल्पनिक प्रेम दृश्यों और प्रेमानुभूतियों के अभिव्यंजन की जो एक शैली चल रही है उस में 'कौशलेन्द्र' जी प्रमुख स्थान रखते थे। खड़ी बोली के काव्य में इस प्रकार तीन धाराएँ इस समय प्रवाहित हो रही हैं। १ राष्ट्रिय धारा, २ प्रेमानुभूति धारा, ३ छायावाद की नवीन धारा। तीसरी नवीन धारा के लेखक 'प्रसाद' जी, 'पन्त' जी और 'निराला' जी हैं। हमारे लेख का सम्बन्ध उपर्युक्त द्वितीय धारा से है। 'कौशलेन्द्र' जी उस क्षेत्र के श्रेष्ठ लेखकों में थे। यद्यपि इस क्षेत्र में ठा० गोपाल शरणसिंह ने 'माधवी' लिखकर पर्याप्त ख्याति प्राप्त की है, किन्तु 'माधवी' और 'काकली' का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट प्रकट हो जाती है कि, काकली के छन्द माधवी के छन्दों से टक्कर ले रहे हैं। काकली में कुछ छन्द तो हिन्दी साहित्य में बहुत अच्छा स्थान पाने योग्य हैं और शेष छन्द भी कवित्व पूर्ण एवं

सहृदयता से भरे पूरे हैं। कौशलेन्द्रजी की कविता में सुन्दर उदाहरणों की संख्या प्रचुर परिमाण में पाई जाती है। आपकी कतिपय चुनी हुई सूक्तियों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं। 'दुख' पर आपकी दो मार्मिक सूक्तियाँ देखिए—

"काँपता पवन अविराम पन्थ चलने से,
धरा हुई धूल भार जग का उठाने से।
जलता अनल अपने ही में निरन्तर है,
नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने से॥
'कौशलेन्द्र' जल भी बना कवल प्यास का है,
बच सका कौन जगती में दुख पाने से।
डाल दिया मुझको कहाँ है भगवान हाय,
दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने से॥"

पवन का अविराम पन्थ चलने से काँपना—धरा का अपने भार-वाहन से धूल होना, अनल का अपने ही में निरन्तर जलना कितना स्वाभाविक है। अंबर का आहों से नीला पड़ जाना इस कोमल कल्पना को जितनी दाद दी जाय थोड़ी है। जल भी प्यास का कवल बन गया है। इस असीम विश्व में कवि का चुटीला हृदय जिधर देखता है उधर उसे दुःख ही दुःख दिखाई देता है। कवि कहता है, इस दुःख के वातावरण में आकर मैं भी दुःख स्पर्श से न बच सका। कवि का कोमल हृदय सहानुभूति की प्रेरणा से दुःख-मदिरा अपने हृदय-प्याले में डाल रहा है। उसे दुःख पिलाने को दुःखमय संसार ही 'साकी' बन रहा है। अतएव उसे दुःख-मदिरा पीनी ही पड़ी—

उस चश्मे मै फ़रोश से कोई न बच सका।
सबको बक़दर हौसलए दिल सुरूर था।

प्रसिद्ध रहस्यवादी कवि कबीर को भी इस दुःखान्त विश्व में यही अनुभूति हुई थी। वह भी अपनी हृदय-तन्त्री से यही स्वर छोड़ रहे हैं—

"जो देखा सो दुखिया देखा,
तन धरि सुखिया ना देखा।
राजा दुखिया, जोगी दुखिया,
तापस के दुख दूना॥"

कबीर राजा-प्रजा, गृहस्थ-तपस्वी, सभी को दुखी देखते हैं। वाह्य विश्व के निरन्तर कोलाहल में उन्हें दुःख का चीत्कार सुनाई देता है। किन्तु 'कौशलेन्द्र' तो प्रकृति के अणु-परमाणुओं में भी दुःख का व्यापक प्रभाव देख रहे हैं, उन्हें प्रकृति के कण-कण में दुःख का प्रतिविम्ब दिखाई देता है। आकाश नीला क्यों हो गया है, इसका कारण कौशलेन्द्र की राय में—आहों का टकराना है।' इसलिए कबीर से 'कौशलेन्द्र' का वर्णन आकर्षक तथा प्रभाव पूर्ण हुआ है। आकाश नीला हो गया है। जैसा कि मीर साहब ने तारों के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट किया है—

"तारे नहीं फ़लक ये हैं, आहों से यह मेरी—
सूराख़ पड़ गए हैं तमाम आसमान में।"

हम समझते हैं, मीर साहब का 'आहों से आसमान में सूराख पड़ जाना' उतना स्वाभाविक और मार्मिक नहीं जितना कौशलेन्द्र का—

"नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने से।"

जब शरीर पर कोई चोट लगती है तो नीला दाग़ पड़ जाया करता है। 'कौशलेन्द्र' कहते हैं, आकाश के शरीर पर भी असंख्य चोटें पड़ी हैं। ये चोटें भी बड़ी मार्मिक और सहृदयों के अनुभव करने की चीज़ हैं। वह चोटें डंडों और बेतों की नहीं

प्रत्युत उनकी कल्पना कवि के मस्तिष्क से हुई है, अतएव उनमें सूक्ष्मता और बारीकी होनी ही चाहिए। 'आहों का टकराना' और उन टक्करों से आकाश के वक्षःस्थल में चोटों का दाग़ पड़ जाना—इतना ही नहीं—आकाश के इतनी चोटें लगना कि उसका सारा शरीर चोटों से आवृत होगया है। और शरीर-भर में नीले दाग़ इतनी अधिकता से पड़े हैं कि सारा शरीर ही दागों के कारण नीला हो गया है। कल्पना की सूक्ष्मता, भाव की कोमलता, एवं सूझ की बारीकी केवल सहृदयों के अनुभव करने की वस्तु है, बताने की नहीं—

'बयाने हुस्ने सनम हो सके तो क्यों कर हो,
जुबाँ के आँख नहीं आँख के जुबाँ नहीं।'

मीर साहब के शेर में चमत्कार ही चमत्कार हैं, कलातत्त्व का विकास है, किन्तु हृत्तन्त्री का प्रस्फुटन उसमें अप्राप्य है। उनकी रचना पढ़ कर लोग 'वाह वाह' करेंगे, फड़क भी उठेंगे—'वल्लाह मीर साहब! कह कर दाद भी देंगे, मगर मीर साहब की उक्ति करुणरस की अनुभूति उत्पन्न करने के स्थान में हँसा देगी, फड़का देगी किन्तु श्रोता को रुला न सकेगी। इसके विपरीत कौशलेन्द्र की उक्ति उनके और श्रोता के हृदय में तादात्म्य सम्बन्ध उत्पन्न कर देगी, कवि के साथ श्रोता भी रो पड़ेगा और चीख उठेगा। इतने ग़ज़ब का सोज़ोगुदाज़ भरा है उनकी सूक्ति में। निःसन्देह इनका यह छंद मास्टरपीस है। दुःख पर आपका दूसरा छंद देखियेः—

जीवन ही जड़ है अशांति की दया निधान!
तन ही कठिन यातनाओं का सदन है।
कल्पना में भी कभी न शान्ति मिलती है यहाँ,
अपना विकास बना अपना पतन है।

'कौशलेन्द्र' चित्तवृत्तियाँ भी घबराई-सी हैं,
बनगया प्राण कृश हो कर पवन है।
साँस लेने पाती नहीं साँसें कभी नेक हाय,
टिकने न पाता कहीं एक ठौर मन है॥

चित्तवृत्तियों के घबराने और प्राण सूख कर पवन हो जाने की कल्पना बड़ी ही कोमल है। साँसों का साँस न ले पाना, इस मुहाविरे का प्रयोग बड़ा ही सुन्दर हुआ है। कौशलेन्द्र की भाषा परिमार्जित स्पष्ट और बोलचाल की है। उर्दू की कविता में जैसा रोज़मर्रा लिखा जाता है उसी की टक्कर की भाषा कौशलेन्द्र जी लिखते हैं। कवित्त पढ़ने में ऐसा ज्ञात होता है, मानो वह किसी से बातचीत कर रहे हों। शब्दों के सुष्ठु संस्थापन एवं महावरों के मधुर निर्वाचन में आप पूर्ण पटु थे।

दुखिया नाम की रचना में आपने अपने हृदय की अनुभूति को किस प्रकार अभिव्यक्त किया है सो सुनिए—

हम दुखिया हैं दुख ही है जग में हमारा,
मोड़ा मुंह सबने हमें मुँह लगाने में।
दयानिधि भी दया बिसार के बने निठुर,
आया उनको भी हँसना हमें रुलाने में।
'कौशलेन्द्र' नहीं जान पड़ता है भेद कुछ,
क्यों कर लगे हैं सब हमको सताने में।
खल-दल सबल लगा है शान्ति हरने में,
सुजन-समाज दुख-धन के बटाने में।

रेखाङ्कित पंक्तियों में मुहावरों से उत्पन्न होने वाला अर्थ-चमत्कार अवलोकन कीजिए।

आँसुओं से धोते हम उर की मलीनता हैं,
तो भी सब हम से घृणा ही किए जाते हैं।

करते दमन व्यसनों का दीनता से सदा,
क्षम्य हैं, तथापि हमें दोष दिए जाते हैं।
'कौशलेन्द्र' वाणी-बाण से हैं चीर देते उर,
किन्तु हम मौन हो सदैव सिए जाते हैं।
बन कर दुखिया न फिर कभी जीना पड़े,
इसी मारे हाय! हम और जिए जाते हैं।

आँसुओं से धुल कर परिष्कृत होने पर भी सब से घृणा किए जाने की शिकायत में बड़ी ही भोली और कोमल कल्पना खेल रही है। अन्तिम पंक्ति तो कवित्त की जान है। एक बार दुखी बन कर चाहे जितना जी लिया जाय किन्तु फिर जीने की बेगार न ली जाय, इसलिए, इसी बार जीवन-धारण का काम अधिक मात्रा में कर दिया जायगा। किन्तु बेचारे कौशलेन्द्र को तो दुखी बन के दुख ढोने के लिए भी तो अधिक दिन नहीं जीने दिया गया। विधि बाम से उनकी इतनी प्रार्थना भी तो पूरी नहीं की गई। शोक! कवि की कविता में उनके जीवन का तत्व छिपा रहता है। कौशलेन्द्र का जीवन-आसव रूप से खिंच कर उनकी कविता-प्याली में छलक रहा है! वास्तव में सच्ची कविता भी वही होगा जिस में मानव-जीवन के सत्य की व्याख्या हो! जैसा कि एक अँग्रेज़ विद्वान् का कथन है:--
"The beauty of poetry is to paint the human life truly".

प्राणों में सदैव हाहाकार मचा रहता है,
मानो यह मानस प्रदेश गया लूटा है।
भाग कर जायें कहाँ सूझता नहीं उपाय,
हारा बल और बाँध साहस का टूटा है।
'कौशलेन्द्र' कठिन बड़ा है पथ जीवन का,
क्या है अवलम्ब संग भी तो हाय छूटा है।

हम हैं अभागे बड़े जग में हमारा भाग्य,
कैसा अचरज है बिना लड़े ही फूटा है।

कोई चीज़ लड़ कर या टकरा कर टूटती है किन्तु भाग्य का बिना लड़े ही फूटना सुन्दर कल्पना है। भाग्य के लड़ने में दूसरा चमत्कार और है, 'भाग्य लड़ने का मुहाविरा भाग्य के सफल होने के प्रयोग में भी बोला जाता है। 'लड़ने' शब्द के श्लिष्ट प्रयोग में दो अर्थों का चमत्कार मिश्रित है। असंगति अलंकार का भी बड़ा सुन्दर निदर्शन है। क़िस्मत का लड़ कर टूट जाना स्वाभाविक है, दूसरे भाग्य सफल होकर बिगड़ना ठीक है। उसमें किसी को शिकायत की गुंजायश नहीं रहती। कलेजे, की सब से गुप्त एवं मधुर रागिनी का नाम ही कविता है। देखिये कौशलेन्द्र का निम्नाङ्कित छन्द उनके चोट खाए हुए कलेजे की धधकती हुई हूक का प्रतिविम्ब है।

रक्त जल होकर बहा है आँसुओं के मिस,
सूखा है कलेवर उसासों की बयार से।
प्राण हुए भार मनोवेदना के भार से हैं,
ऊब गया जी है जग कष्ट-कारागार से।
'कौशलेन्द्र' दुख ही बदा है जब भाग में तो,
होगा न भला किसी के प्रेम-व्यवहार से।
रोना याद आएगा पिघलने लगेगा मन,
कोई मत देखना हमारी ओर प्यार से।

अन्तिम चरण में तो कवि ने कलेजा निकाल कर रख दिया है। इसे पढ़ कर हृदय करुणा-गद्गद होकर पिघलने लगता है। ऐसी ही कविताओं को लक्ष्य करके एक संस्कृत कवि कहता है—

"सा कविता सा कविता यस्याः श्रवणेन दर्शने नापि।
कवि हृदयं विट हृदयं सरलं तरलं च सत्वरं भवति"॥

उनकी मरणोन्मुखी रचना भी बड़ी हृदयग्राहिणी है, सजीव भाव का चित्र खींच दिया है।

(१)

जा रही हूँ अब तो विलम्ब हो रहा है नाथ,
बोलते नहीं क्यों, पड़े कौन कठिनाई में।
नतमुख बैठे कब से हो किम्वा रूठ गए,
फल क्या मिलेगा तुम्हें ऐसी निठुराई में॥
'कौशलेन्द्र' शेष न है कोई अभिलाष मेरी,
पा चुकी हूँ क्या न मैं तुम्हारी सेवकाई में।
प्राणधन! माँगती बिदा हूँ, किन्तु दे रहे क्यों—
हाय! अश्रु-मोती तुम मुझ को बिदाई में॥

(२)

गृहिणी पतिव्रता तुम्हारी कहलाती थी मैं,
किन्तु आज दूसरे के हाथ हरी जाती हूँ।
तुमने न छोड़ा पर हाय! तुम्हें छोड़ चली,
दैव मैं कलङ्क-वेदना में मरी जाती हूँ॥
'कौशलेन्द्र' कौन थी मैं और क्या हुई हूँ अब,
क्या करूँ विवश हूँ हया में गरी जाती हूँ।
प्राणनाथ! तुम पर मरती सदा थी किन्तु,
अब मौत पर मैं अभागी मरी जाती हूँ॥

यह छन्द कवि ने प्राणों की भाषा में लिखा है। मुहावरे की ख़ूबी अर्थ में चार चाँद लगा रही है। तुम पर मरने के बजाय, मौत पर मरने की कितनी प्यारी सूझ है!!

कौशलेन्द्र जी के छन्दों में यह विशेषता है कि उत्तरोत्तर रस उत्कर्ष की ओर बढ़ता जाता है, दूसरी पंक्ति पहली से, तीसरी दूसरी से और चौथी तो गज़ब की चीज़ होती है, तथा उनके छन्द-क्रम का तारतम्य भी ऐसा ही होता है। कवित्त लिखने के

लिए यह शैली ही सर्व-श्रेष्ठ और प्रभावपूर्ण है। मरणोन्मुखी के दो छन्द और सुनिए—

(३)

जीती कुछ और देख लेती सुख आपका तो,
खलती न आज कठिनाई मर जाने की।
क्या मिले थे आप इस भाँति छुटने के लिए,
रह गई मन में है बात पछताने की।
ठहर सकूँगी क्या मैं स्वर्ग में भी तुम बिन,
क्या मिटेगी मर कर चाह तुम्हें पाने की।
नाथ! गहो हाथ हाय व्याधि लगती है हमें—
बार बार जाने और बार बार आने की।

(४)

रहना समोद सहना न शोक ताप तथा,
प्रेम-रत्न है इसे न भूल के भी खोना तुम।
टूटने न देना निज मानस-मुकुर मंजु,
विरह दशा में सदा साहस सँजोना तुम।
'कौशलेन्द्र' सुख से मैं मरती हूँ प्रेमधन,
मेरी याद करके कभी न खिन्न होना तुम।
लीजिए प्रणाम, गुरुजन सामने हैं हाय,
लाज धुल जाएगी न मेरे लिए रोना तुम।

'रोने पर लाज का धुल जाना' इस मधुर-वाक्य में कविता-रस लबालब भरा हुआ है। दीन हरिण बधिक से कहता है—

शीत के कसाले सहे पाले पर पाले सहे,
आतप के काले काले छाले से हैं तन में।
लेते रहे सिर पै घनों की वारि-धारा हम,
घोर दुख पाते रहे सन्तत विजन में।

'कौशलेन्द्र' आँख आँख वालों से बचाते रहे,
डरते रहे सदा हवा की सनसन में।
दूब दशनों में लिए दया के भिखारी रहे,
तो भी हाय तनिक दया न आई मन में।

कवित्त के चौथे चरण में सम्पूर्ण छन्द-सौंदर्य्य का निचोड़ होना चाहिए, तभी श्रोताओं पर क्रमानुसार अधिकाधिक प्रभाव पड़ता है। 'कौशलेन्द्र' ने सर्वत्र अपनी कविता में इस नियम का निर्वाह किया है। 'दूब दशनों में·····आई मन में" में मानो समस्त माधुर्य्य निचोड़ कर भर दिया हो! एक और छन्द मृगोक्ति का सुनिये—

मरते सभी हैं हमें डर मरने का नहीं,
मार कर हम को न आप कुछ पायेंगे।
होगा अपकार रम जायगा कुरंग-कुल,
जग में कभी न तुम्हें भोले पतिआयेंगे।
'कौशलेन्द्र' बस हमें शोक इतना है जब—,
प्यारे मृग खोज में हमारी यहाँ आएंगे।
सूनी विपनस्थली विलोकि दूनी होगी व्यथा,
उर भर आएंगे, नयन झर लायेंगे।

मानो इस मिस से कौशलेन्द्रजी अपने लिए संकेत कर गए हों कि उनके बिना साहित्यस्थली सूनी विलोक साहित्य-सेवियों के 'उर भर आयेंगे—नयन झर लायेंगे'। इनकी इस उक्ति पर एक प्राचीन मृगोक्ति का स्मरण हो आता है जिसमें बधिक से मृग अनुरोध करता है—

"चरम काढ़ि आसन करौ,—माँस भूनि कै खाहु।
जबलौं तन में प्रान हैं बेनु बजाये जाहु॥"

आपकी यह रहस्य मयी जिज्ञासा भी रसिकों के हृदय की खुराक है। इसमें सृष्टा के व्यापक रहस्य का निदर्शन जिस ढंग से किया गया है वह अवलोकनीय है—

गिरिवर गण किसको खड़े निहारते हैं,
दौड़ते जलद किसके लिये गगन में।
उदधि उमँगते हैं किसके समागम को,
किसके लिए तड़पती है विज्जु घन में।
किसके रिझाने को प्रकृति सजती है साज,
कोई बतलादो, मैं पड़ा हूँ उलझन में।
जीवन दिवस जा रहे हैं किसे खोजने को,
किस के लिये रुके हुए हैं प्राण तन में।

(चितचोर से)

(१)

वारा तुम पै था तन मन यह जान के कि,
तुम भी हमारी भाँति प्रणय विभोर हो।
आगई थी सहसा प्रतीत तुम पर बस,
देख के यही कि भोले भाले हो किशोर हो।
किन्तु अब हम देखने को भी तरस रहे,
किसको ख़बर थी कि इतने कठोर हो।
घुसने न देता तुम्हें मानस-भवन में जो,
नेक भी मैं जानता कि तुम चितचोर हो।

(२)

ध्यान में तुम्हारे दिन-रात हम लीन रहे,
तो भी हमें तुमने भुलाया तो भुलाया क्या।
पीड़ित स्वयं थे प्रेम-पीड़ा से बहुत हम,
उस पै भी हम को सताया तो सताया क्या।

'कौशलेन्द्र' जब वश में ही थे तुम्हारे तब,
छल बल अपना दिखाया तो दिखाया क्या।
मन को मिलाकर लड़ाकर दृगों को मेरे,
वञ्चना से चित्त यों चुराया तो चुराया क्या।

करुण-रस के चित्रण करने में कौशलेन्द्रजी पूर्णतया कृत-कार्य हुए हैं। उनकी कविता मिश्री के कूजे के समान है, इसे जिधर से चाहिये तोड़िये-मधुर ही प्रतीत होगा। उनकी रचनाओं में शिथिल छन्द तो खोजने पर भी शायद न मिलें; किन्तु उनकी रचना के उत्कृष्ट उदाहरण 'काकली' में सर्वत्र सुलभ हैं।

यद्यपि कौशलेन्द्र जी आज हमारे नेत्रों के सामने नहीं हैं किन्तु उनकी काल्पनिक मूर्त्ति हमारे हृदयों में अब भी विराजमान है! उनका पार्थिव शरीर भले ही इस विनश्वरविश्व में विद्यमान न हो किन्तु यशःशरीर—जो जरा-मरण-भय से मुक्त है सदैव हिन्दी-प्रेमियों के मध्य उपस्थित रहेगा।

"जयन्ति ते सुकृतिनो रस सिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरा मरणजं भयम्॥"

कभी भूले-भटके जब इन सूक्तियों को पढ़ लेता हूँ तो दिल तड़प उठता है। दिल का जख्म हरा हो जाता है। हृदय में एक हूक-सी उठती है और हिन्दी-साहित्य-उपवन की इस अधखिली कली के असमय में ही मुरझा जाने पर हृदय बार बार रो पड़ता है। हम अपने नेत्रों में अश्रुपूर्ण मोतियों की लड़ियाँ भर कर उस स्वर्गीयआत्मा के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं।

——:*:——

काकली

हिरानी है

रम्य रवि-मंडल में तेज-रूप आपु ही हौ,
चन्द्र-कुण्डली में आभा रावरी समानी है।
नभ में असीमता, अवनि में विचित्रता औ,
सिन्धु में गँभीरता तिहारी ही प्रमानी है।
'कौशलेन्द्र' विद्यमान कण-कण में हौ, तऊ—,
पाइबो तिहारो मृग-तृष्णिका को पानी है।
हेरि हार्‌यो, परत न आगे पग नाथ! गति—
गैल में हिरानी मति मन में हिरानी है।

दुख

* १ *

काँपता पवन अविराम पंथ चलने में,
धरा हुई धूल भार जग का उठाने में।
जलती अनल अपने ही में निरंतर है,
नीला पड़ा अम्बर है आहें टकराने में।
'कौशलेन्द्र' जल भी बना कवल प्यास का है,
बच सका कौन जगती में दुख पाने में।
डाल दिया मुझको कहाँ है भगवान! हाय,—
दुखिया हुआ मैं इन दुखियों में आने में।

* २ *

जीवन ही जड़ है अशांति की दयानिधान!
तन ही कठिन यातनाओं का सदन है।
कल्पना में भी कभी न शान्ति मिलती है यहाँ,
अपना विकास बना अपना पतन है।
'कौशलेन्द्र' चित्त-वृत्तियाँ भी घबराई-सी हैं,
बनगया प्राण कृश हो कर पवन है।
साँस लेने पातीं नहीं साँसें कभी नेक हाय,
टिकने न पाता कहीं एक ठौर मन है।

जिज्ञासा

१

मञ्जुल मयङ्क में अमल आभा किसकी है,
चपल चमक किसकी है तारागन में।
तेज अंशुमाली में है किसका समाया हुआ,
छाई छटा किसकी है बन-उपवन में।
'कौशलेन्द्र' किसकी सुरभि फूल-वृन्द में है,
गूँज रही तान-सी है किसकी पवन में।
घूमती वसुन्धरा है किसकी प्रदक्षिणा में,
किसकी जमी है धाक दृग और मन में।

२

गिरिवर गण किसको खड़े निहारते हैं,
दौड़ते जलद किसके लिये गगन में।
उदधि उमँगते हैं किसके समागम को,
किसके लिये तड़पती है बिज्जु घन में।
किसके रिझाने को प्रकृति सजती है साज,
कोई बतलादो, मैं पड़ा हूँ उलझन में।
जीवन-दिवस जारहे हैं किसे खोजने को,
किस के लिये रुके हुए हैं प्राण तन में।

उन से

* १ *

कब तक सहनी पड़ेगी निठुराई तव,
कब तक छूटना न होगा दुख-दाहों से।
अब न अधिक कलपाओ तरसाओ हमें,
हाय! जलता हूँ नित्य अपनी ही आहों से।
'कौशलेन्द्र' नेक भी न देते ध्यान इस पै कि,
प्राण में छिपाया तुमको था किन चाहों से।
एक बार तो हमें निहार लो नज़र भर,
चाहे बेध देना फिर तिरछी निगाहों से।

* २ *

मेरा स्वर्ण-मन निज मानस-कसौटी पर,
कस लिया, तदपि हुआ न तुम्हें एतबार।
मेरे लिये तुम हो सदैव प्राणाधार, किन्तु,—
तुमको है हाय! मेरा नाम भी हृदय-भार।
'कौशलेन्द्र' तन लिया, मन लिया, ध्यान लिया,
तो भी न दिखाया कभी नेक मुझ पर प्यार।
सब कुछ ले लो, पर छोड़ दो हमारे लिए-
मानस में पीर लोचनों में आँसुओं की धार।

मेरी दशा

* १ *

जागता नहीं हूँ तुम्हें देखता हूँ चारों ओर,
सोता नहीं हूँ तुम्हारा ध्यान धरता हूँ मैं।
बोलता नहीं हूँ किन्तु तुमको पुकारता हूँ,
होता हूँ न मौन आप में बिसरता हूँ मैं।
'कौशलेन्द्र' अब न अधिक भटकाओ मुझे,
करता जो हूँ तुम्हारे हेतु करता हूँ मैं।
जी नहीं रहा हूँ यह जीवन बिता रहा हूँ,
साँस चलती नहीं है आहें भरता हूँ मैं।

* २ *

शान्ति हुई स्वप्न, कल्पना में भी न मोद रहा,
खिंच गई आनन पै दुख की लकीर है।
जीवन के क्षण से निकलते हैं अश्रु-बुद,
बुद्धि हुई क्षीण, धैर्य भी हुआ अधीर है।
'कौशलेन्द्र' तन होगया है तत्त्वहीन, बस,—
रह गया शेष अभिलाषा का समीर है।
डूबा प्राण-कंज उर-करुणा-सरोवर में,
मानस की पीर हुई द्रौपदी का चीर है।

प्रेम के छींटे

* १ *

ध्यान रखते न यदि संतत चराचर का,
कौन तब जगमें तुम्हारा ध्यान धरता ?
करते सदा न यदि बास उर-धामों में, तो
गमन न कोई तव धाम को भी करता।
तारना न सीखते जो पापियों को तार के तो,
साधु भी न सहसा तुम्हारे तारे तरता।
करते न अबल जनों को निज ओर में तो
कैसे नाथ ! सबल-समाज तुम्हें डरता ?

* २ *

ग्राह से गजेन्द्र को दयार्द्र हो छुड़ाया, किंतु-
इस में तो सर्वथा दया ही की बड़ाई है।
द्रौपदी की लाज रक्खी अपनी हँसी विलोकि,
भास होती यों भी तो हया की प्रभुताई है।
ध्रुव, प्रह्लाद, शिवि तारे यदि आप ने, तो,
तप-कीर्ति उनकी क्यों चारों ओर छाई है ?
करनी बिरानी से बने हैं यश-शाली आप
लीलाधाम ! देखी सब ठौर चतुराई है।

❀ ३ ❀

कैसे नाम लेता सारा जगत, न होती यदि-
आप से अधिक सत्ता आप के सुनाम में ?
चाहता कृपा की कोर कोई भला कैसे, जब,
राजती क्षमा न तव लोचनाभिराम में ?
'कौशलेन्द्र' रहते न दीन ही जगत में, तो
दीन-बन्धुता तुम्हारी आती किस काम में ?
पूछता न कोई तुम्हें कौड़ी को भी कमलेश !
कमला न होती जो तुम्हारे स्वर्गधाम में ?

❀ ४ ❀

दुखिया अनाथ दाने-दाने को तरस रहे,
अधम विलासियों को गाड़ दिया धन में।
शासक सबल सुख भोगरहे महलों में,
प्रेम के पुजारी भटकाए बन-बन में।
'कौशलेन्द्र' बड़े हो बड़ी ही है तुम्हारी लीला,
कौन कह कर पड़े भारी उलझन में।
बोलता मैं किंतु सारी कलई तुम्हारी नाथ !
बैठे जो न होते तुम मानस-भवन में।

प्रेम-प्रलाप

* १ *

पहने अनेकों ने रँगे पट तुम्हारे लिए,
प्रेमियों पै करते यही तो दया-कोर हो।
रहते सभी के उर में हो सर्वदा ही, पर–,
आते कभी बाहर न, ऐसे मुँह चोर हो।
होऊँ प्रेम-भाजन स्वप्रेम-बल से ही भले,
किन्तु तुम झुकते न नेक मेरी ओर हो।
चाहक न होता और कोई जो तुम्हारा तो मैं–
देखता कि कैसे तुम उर के कठोर हो।

* २ *

पाऊँ प्रिय आपको तो जीवन के फल पाऊँ,
धोऊँ पद पंकज अमल अश्रुनीर में।
उर से लगाऊँ विरहानल बुझाऊँ तुम्हें—
सुख से सुलाऊँ साँस-व्यजन-समीर में।
'कौशलेन्द्र' सारी निरदयता भुलाऊँ तव,
और सिखलाऊँ दुखी होना परपीर में।
मूँद कर लोचन-कपाटों में छकाऊँ ख़ूब,
स्ववश बनाऊँ बाँध प्रणय-जँजीर में।

लोचनों के प्रति

डूबे रहते हो खारे जल में सदैव तुम,
करते तथापि तुम रूप-सुधा-पान हो।
जब लगजाते तब लगते न पल को भी,
मन का बताते भाव यदपि अजान हो।
'कौशलेन्द्र' जग में प्रसिद्ध लालची हो किन्तु,
करते अजस्र अश्रु-मोतियों का दान हो।
बिंधते कहीं हो कहीं काट कर होते पार,
नैन तुम! बान हो न कठिन कृपान हो।

मन के प्रति

आप मिलते पर लड़ाते दीन लोचनों को,
मन ! यह है मलीनता तुम्हारे मन की।
उर बिरहानल में जलता सदा है किंतु,
लगी रहती है तुम्हें प्रणयलगन की।
जिसके सगे हो सदा देते हो उसी को दगा,
'कौशलेन्द्र' बान-सी तुम्हें है नीचपन की।
तन पै विलोकि तरुनाई की चढ़ाई, तुम—
छोड़ कर संग और लेते हो मदन की।

मरणोन्मुखी

(पति से)

* १ *

जारही हूँ, अब तो विलम्ब हो रहा है नाथ !
बोलते नहीं क्यों ? पड़े कौन कठिनाई में ?
नतमुख बैठे कब से हो, किंवा रूठ गए,
फल क्या मिलेगा तुम्हें ऐसी निठुराई में ?
'कौशलेन्द्र' शेष न है कोई अभिलाष मेरी,
पाचुकी हूँ क्या न मैं तुम्हारी सेवकाई में ?
प्राणधन ! माँगती विदा हूँ, किन्तु दे रहे क्यों-
हाय ! अश्रु-मोती तुम मुझको विदाई में ?

* २ *

गृहिणी पतिव्रता तुम्हारी कहलाती थी मैं,
किन्तु आज दूसरे के हाथ हरी जाती हूँ।
तुमने न छोड़ा पर हाय ! तुम्हें छोड़ चली,
दैव मैं कलङ्क-वेदना में भरी जाती हूँ।
'कौशलेन्द्र' कौन थी मैं और क्या हुई हूँ अब,
क्या करूँ विवश हूँ हया में गरी जाती हूँ।
प्राणनाथ ! तुम पर मरती सदा थी किन्तु,
अब मौत पर मैं अभागी मरी जाती हूँ।

❀ ३ ❀

जीती कुछ और देख लेती सुख आपका तो,
खलती न आज कठिनाई मरजाने की।
क्या मिले थे आप इस भाँति छुटने के लिए,
रहगई मन में है बात पछताने की।
ठहर सकूँगी क्या मैं स्वर्ग में भी तुम बिन,
क्या मिटेगी मर कर चाह तुम्हें पाने की?
नाथ! गहो हाथ, हाय! व्याधि लगती है हमें–
बार-बार जाने और बार-बार आने की।

❀ ४ ❀

रहना समोद सहना न शोक-ताप तथा,
प्रेम-रत्न है इसे न भूल के भी खोना तुम।
टूटने न देना निज मानस-मुकुर मंजु,
विरह दशा में सदा साहस सँजोना तुम।
'कौशलेन्द्र' सुख से मैं मरती हूँ प्रेमधन!
मेरी याद कर के कभी न खिन्न होना तुम।
लीजिए प्रणाम, गुरुजन सामने हैं, हाय–,
लाज धुलजाएगी, न मेरे लिए रोना तुम।

मिलन-मनोरथ

* १ *

हों हम कलेवर यदि कभी
तो आप प्यारे प्राण हों,
होवें यदपि हम प्राण ही
तो आप उसके त्राण हों।
हम आप के हों आप मम
युग और प्रेम अनन्त हों,
जीवन-कुसुम-लतिका ललित में
आप कलित बसन्त हों।

* २ *

हों आप पङ्कज मंजु, तो हम
नील जलमय सर बनें,
यदि आप मधुर पराग तो
हम रसिक वर मधुकर बनें।
हम आप को त्यों आप हम को
ध्येय अपना जान लें,
चुम्बक समझ कर दूसरे को
एक लोहा मान लें।

❀ ३ ❀

हों आप यदि धवलेन्दु तो
हम नील नभ हों सर्वथा,
अथवा समुज्ज्वल चन्द्रिका
प्यारे कुमुद कल हों तथा।
ग्यारह सदृश हो युग हमारा
एकता की टेक हो,
इस ओर से भी एक हो
उस ओर से भी एक हो।

❀ ४ ❀

तुम यों मिलो जैसे कि ऋतुपति–
से रसिक रति-पति मिलें,
अथवा विरह से स्मृति मिले
सङ्गीत से मृदु गति मिलें।
कर कर मिलें उर उर मिलें
ऊपर मिलें अन्तर मिलें,
मन-भर मिलें खुल कर मिलें
जी कर मिलें मर कर मिलें।

बाघिक से

* १ *

बाँध कर कोमल सरस स्वर-लहरी यों
जादू डालते हो मेरे तन, मन, ध्यान पर।
दीन बनचारी तृणाहारी भोले-भाले मृग,
देवें उपहार क्या? तुम्हारे कल गान पर।
'कौशलेन्द्र' छलिया बड़े हो तुम्हें जानता हूँ,
घात है तुम्हारी यह मेरे प्यारे प्रान पर।
मार डालना, परन्तु नेक रुक जाओ अभी,
मरने मुझे दो बीन वाले! मृदु तान पर।

* २ *

शीत के कसाले सहे पाले पर पाले सहे,
आतप के काले-काले छाले से हैं तन में।
लेते रहे सिर पै घनों की बारि-धारा हम,
घोर दुख पाते रहे संतत विजन में।
'कौशलेन्द्र' आँख, आँख वालों से बचाते रहे,
डरते रहे सदा हवा की सन-सन में।
दूब दशनों में लिए दया के भिखारी रहे,
तो भी हाय तनिक दया न आई मन में।

* ३ *

मरते सभी हैं हमें डर मरने का नहीं,
मार कर हमको न आप कुछ पाएँगे।
होगा अपकार रम जायगा कुरङ्ग-कुल,
जग में कभी न तुम्हें भोले पतिआएँगे।
'कौशलेन्द्र' हमें बस शोक इतना है, जब—
प्यारे मृग खोज में हमारी यहाँ आएँगे।
सूनी विपिनस्थली विलोकि दूनी होगी व्यथा,
उर भर आएँगे, नयन भर लाएँगे।

❀ ४ *

बेधते हो कोमल कली को विष-बाण से तो,
बेध दो! दया न उर में तनिक लाना तुम।
अब न दुखाना कभी दिल दुखियों का तथा,
आज से कभी न यहाँ बीन भी बजाना तुम।
'कौशलेन्द्र' लेकर हमारी मृतदेह जब,
जाना घर को तो यह भूल मत जाना तुम।
प्यार करते थे हमें रसिक सुजान हाय!
इन अँखियों को खूब उन से छिपाना तुम

मिलन

भेंटे रघुनन्दन भरत कौं हृदै लगाय,
प्रेम करुणा सों मिल्यो मानो देह धारि सही।
पुलके कलेवर, विभोर ममता में भए,
भूले भगवान सुधि-बुधि अपनी न रही।
'कौशलेन्द्र' तपनि बुझानी विरहानल की,
अतिहिं अघानी वारि पूरित ह्वै उर मही।
नैनन तैं बरसे प्रचुर सुख-अँसुआ त्यों,
बैनन तैं मधुर सनेह—रसधार बही।

कपोलस्थ श्रम सीकर

मैन के मुकुर में जड़्यो है मञ्जु हीरक धौं,
चन्द में अमन्द फूल मल्लिका को फूलि रह्यो।
कैधौं स्वच्छ सरसी में विकसो कुमुद कैधौं–,
पुंडरीक-सम्पुट पै ओस बुन्द झूलि रह्यो।
'कौशलेन्द्र' कैधौं है झलक कल-हास की ही,
ओज धौं गुराई में निकाई को समूलि रह्यो।
अमल कपोल पै विलोकि स्रमकन मञ्जु,
मेरो मन-मधुप मरन्द मानि भूलि रह्यो।

सूक्ति सुधा

❀ १ ❀

भासती हमें है भासमान भानुमण्डल में,
सुषमा निराली मोर-मुकुट-ललाम की।
सुन पड़ती है प्राणि-मात्र के स्वरों में वही,
सुधामयी मञ्जु ध्वनि बंशी अभिराम की।
'कौशलेन्द्र' जान पड़ता है धाम में ही कुंज,
कैसी यह है प्रवञ्चना वियोग वाम की।
देखती हूँ जब अपनी मैं परछाईं, तब,
सजनी! सदैव मुझे होती भ्रान्ति श्याम की।

❀ २ ❀

पीत तन मेरा पीत पट जान पड़ता है,
होता है प्रतीत बनमाल मणि-हार का।
अनहद-नाद में ध्वनित होता रास-रव,
होता भ्रम बेणी में कलिन्दजा की धार का।
पगली बनी हूँ पी के प्रेम-मदिरा सुमुखि!
मिलता मुझे सुख निठुरता में प्यार का।
मेरे नयनों में बसते हैं, किन्तु देखती हूँ–,
तेरे लोचनों में रूप नन्द के कुमार का।

हृदयोद्गार

* १ *

पिघल कलेजा बह निकला है लोचनों से,
साँसें निकली हैं घबरा कर बदन से।
आ बसी व्यथायें अनजानी उर-देश में हैं,
निकल गया है मोद मानस-भवन से।
'कौशलेन्द्र' प्राण हो गया पखेरू पींजरे का,
तुल गया हाय! यह तन लघु तृन से।
जीवन अमोल, मुझे हो गया अतोल भार,
जब से मिला तुम्हारा मन मेरे मन से।

❀ २ ❀

टेरते जो पहले मुझे न गौन भाषा में तो,
क्यों समाई होती श्रवणों में हलचल सी।
फिर यदि फिरते न मुझ से, तो अन्तर में–,
चल उठती क्यों चल-विद्युत की कल सी।
'कौशलेन्द्र' मैं भी तुम्हें ध्यान से निकाल देता,
फँसी जो न होती बुद्धि मन में विकल सी।
देख लेता तब मञ्जु मूर्ति इन आँसुओं में,
काँपती न होती जो निगाह चलदल सी।

❀ ३ ❀

भूल गया अपने को भी मैं अपना के तुम्हें,
किंतु तुम पाते मोद मुझ को सताने से।
बाट जोहता तुम्हारे आने की सदा हूँ किंतु,
तुम भागते हो मेरी याद के ही आने से।
'कौशलेन्द्र' इस पै भी मेरे कहलाते तुम,
तङ्ग आगया हूँ ऐसी रीति के निभाने से।
हो गया प्रलम्ब और भी हमारा दुख हाय!
प्रेमधन! आपका सनेह जुड़ जाने से।

कामना

जैसे हम चाहें तुम्हें वैसे तुम चाहो हमें,
नित प्रति एक दूसरे को प्रेम-दान करें।
आप को न छोड़ें हम, आप भी न छोड़ें हमें,
मिलें अनमिल, ऐसे प्रणय-विधान करें।
'कौशलेन्द्र' तज दें विवेक असमानता का,
बनें सम, व्यवहार एक ही समान करें।
भास होवें आप में हमारे गुण-रूप सब,
हम को विलोक आप का ही अनुमान करें।

प्रणयोपालंभ

* १ *

मानता तुम्हें जो निज प्राणों से अधिक प्यारा,
ऐसे हो कठोर तुम उसे ही सताते हो।
आते हो न पास चाहे जितना बुलाए कोई,
पास भी जो आते तो न हाथ कभी आते हो।
'कौशलेन्द्र' उलटे विधान हैं तुम्हारे सब,
लाता उर जो तुम्हें उसे न उर लाते हो।
होगा उपकार तुम से किसी का कैसे, जब–,
मारते उसी को जिस को तुम्हीं जिलाते हो।

❀ २ ❀

प्रेम के हो वश पर प्रेम करते न स्वयं,
हो कर सरल भी कठिनता दिखाते हो।
मान से छकाता, उसे मान से छकाते तुम,
जिसको नचाते हो उसी से शरमाते हो।
'कौशलेन्द्र' आप परदे में रहते हो, किन्तु,
चाहकों को बदनाम जग में बनाते हो।
छलिया बड़े हो, है प्रतीत क्या तुम्हारी, कहीं–,
लूटते किसी को कहीं आप लुट जाते हो।

मेरा परिचय

* १ *

लगन लगे जनों के आकुल नयन हूँ मैं,
पावस के बिछुरे सँयोगियों के मन हूँ।
जाल में फँसा हुआ सभीत मृग-शावक हूँ,
झंझानिल झोंकों का झकोरा हुआ बन हूँ।
पींजरे का बाज डूबते हुए का प्राण हूँ मैं,
फणि मणि-हीन, दैन्य-दलित निधन हूँ।
हो कर ठिकाना भी कहीं न है ठिकाना मेरा,
रहते हुए भी तन के, बना अतन हूँ।

❀ २ ❀

आँख रखते हुए भी देखता न भूल कभी,
मानता न मन की भी ऐसा मन माना हूँ।
चाहता मुझे जो उस से मैं भागता हूँ दूर,
किन्तु कहता है बुध वृन्द कि मैं दाना हूँ।
'कौशलेन्द्र' आप में ही लीन रहता हूँ सदा,
अपना किसी का हूँ न किसी का बिराना हूँ।
ज्ञान का पढ़ाता पाठ विबुध जनों को भी मैं,
ढङ्ग है अनोखा मेरा, अजब दिवाना हूँ॥

वियोगाधिक्य

❀ १ ❀

मिलती नहीं है कल एक पल को भी अब,
पड़ गया हूँ मैं हाय ऐसी उलझन में।
हो उठी अधीर है अधीरता भी मानस की,
बीतने लगे हैं युग ऐसे छन-छन में।
'कौशलेन्द्र' जग ही रहा न वह जग मुझे,
सदन सदन में न विजन विजन में।
घटने लगी है नींद, बढ़ने लगी हैं रातें,
और अधिकाने लगे तारे भी गगन में।

❀ २ ❀

बदल चले स्वभाव, भाव सभी और हुए,
पड़ी प्रतिकूलता है बुद्धि और मन में।
लोचनों से देख सकता हूँ न कृशाङ्ग निज,
बचन लगे हैं मानो डूबने बदन में।
'कौशलेन्द्र' होगया भविष्य भी है वर्तमान,
मिला विपरीत फल प्रणय-लगन में।
बढ़ चली विषम-वियोग-ज्वाल ज्यों ज्यों हाय,
उखड़ चली है प्राण-वायु त्यों त्यों तन में।

चिन्ता

प्रेम-पथ तो है पग-पग में कठिन अति,
डर है कि वह उसमें न कहीं पग जाय।
जैसे मैं ठगी गई प्रपञ्ची पंचशायक से,
वैसे ही न मेरा प्राण प्यारा कहीं ठग जाय।
जलती सदैव विरहानल है मानस में,
दैव! उस के भी उर में न कहीं जग जाय।
लगन लगी है दिन-रात उस की ज्यों मुझे,
उसी भाँति मेरी उस को न कहीं लग जाय।

सखी के प्रति

प्रीतम के भौन जुरि आईं सबै नारि आली !
देखै लागीं मेरो मुख घूँघट उघारि कै।
चतुर सयानी रूप-माधुरी बखानै लागीं,
भूरि मंजु उपमान बार-बार वारि कै।
'कौशलेन्द्र' ननदी जिठानी सासु दौरि दौरि,
डारै लागीं विविधि निछावरैं उतारि कै।
आपनो सो रूप अनुरूपि मुसुकानी सौति,
मेरो मुख-मुकुर मनोहर निहारि कै।

करुणा-कादम्बिनी

* १ *

धन-धान्य पूरित बनाया जिस देश को था,
मोहन ! वही दुकाल-दुख से अधीर है।
हो गये अनाथ कहलाते लोकनाथ जो थे,
मोद था जहाँ, वहाँ पै आज पड़ी भीर है।
'कौशलेन्द्र' आपने ही हमको भुला दिया यों,
उलट गई बस हमारी तक़दीर है।
किस लाज-पट में छिपे हो लाजपति ! यहाँ–
खिंच रहा हाय! हिन्द मां का लाज-चीर है।

* २ *

परम स्वतन्त्र थे जो, वे हो अब दास हुए,
मिला कर्म-वीरों को कठिन कारागार है।
कुदशा किसानों की हुई कुलीन हीन हुए,
श्रम-जीवियों को हुआ जीवन भी भार है।
'कौशलेन्द्र' देखें तो हमारी दीन-वाणी पर,
कब तक खुलता न तव दया-द्वार है।
नङ्गे पग आओगे उबारने को नाथ, यह–,
गज की गुहार त्राहि-त्राहि की पुकार है।

❀ ३ ❀

मोद युत रास रंग रचते जहाँ थे तुम,
भरते जहाँ थे मञ्जु राग बंशी वर के।
सुन पड़ता करुण-क्रंदन वहीं है अब,
कटते वहीं हैं सिर सुरभी-निकर के।
'कौशलेन्द्र' भारत रहा न वह भारत है,
हुआ निरुपाय हाय! पाले पड़ा पर के।
फिर भी न द्रवते हमारी दयनीयता पै,
क्या हुए कठोर गिरधारी! गिरि धर के।

❀ ४ ❀

या तो नाथ! भारत का नाम ही मिटा दो, या कि-,
उस को उबार कर रक्खो निज नाम सार।
जिस मातृ-मेदिनी की गोद में पले थे तुम,
क्या न उसके लिए करोगे यह उपकार।
(धर्म-क्षय के समय होगा मम अवतार),
'कौशलेन्द्र' गीता का वचन निज लो विचार।
बरस चुके हम अनेकों बार दृग-वारि,
घनश्याम! बरसो दया का वारि एक बार।

दीनू

* १ *

दूसरों के दुख में सदैव उर थाम लिया,
और पर सुख में तुम्हारा मन भाया है।
प्राण तक वार दिया चाहा किसी ने जो तुम्हें,
पास भी बिठाया, उसे उर में बिठाया है।
'कौशलेन्द्र' संतत रहे परोपकार लीन,
समझा न भूल कभी अपना पराया है।
प्रेम वश होना, द्रवना, दया का दान देना,
दीन ! तुम ने ही दयानिधि को सिखाया है।

❀ २ ❀

सदय बड़े हो है सदयता तुम्हारी गेय,
छोड़ते न आन अपनी हो किसी हाल में।
रखते अटल अनुराग हो सभी के प्रति,
बाँध रक्खा बैरियों को भी है प्रेम जाल में।
'कौशलेन्द्र' कृशता तुम्हारी ही शरण लेती,
खोजती तुम्हीं को है दरिद्रता दुकाल में।
शांति पाती है तुम्हारी छाया में निदाघ-धूप,
शीत छिपता है मुट्ठियों में शीत-काल में।

* ३ *

कहते दशा न अपनी कभी किसी से, सदा–,
बात हो बनाते, पर मुँह न बनाते तुम।
मानस में भाप सी व्यथा जो उठती कभी तो,
अश्रु बरसाते, उर आतप बुझाते तुम।
'कौशलेन्द्र' रहते अचल हो अचल सम,
घोर दुख में भी रसना पै 'हा' न लाते तुम।
आह करते भी तो डिगाते ध्यान शंकर का,
प्रलय मचाते हरि-हृदय हिलाते तुम।

* ४ *

होता उपलब्ध जितना उसी में होते तुष्ट,
हीनता पै अपनी न नेक पछताते हो।
आँख है चुराता यदि कोई तुम से तो तुम,
राह में उसी की नैन-पाँवड़े बिछाते हो।
'कौशलेन्द्र' निर्बल कभी, कभी सबल तुम,
प्रबल प्रभाव प्रबलों पै भी जमाते हो।
दीन ! तुम्हें दीन बतलाओ हम कैसे कहें,
जब तुम बन्धु दीनबन्धु के कहाते हो।

मित्र महिमा

* १ *

लोचन विहीनों के अलख-दिव्य-लोचन हो,
पंगुओं के पग असहायों के सहारा हो।
निपट निराशा में हो आशा की किरण तुम,
'कौशलेन्द्र' दुख-रजनी में शान्ति-तारा हो।
वृद्धों की लकुट हो, मुकुट महिपालों के हो,
तुमुल रणाङ्गण में साहस की धारा हो।
नाविक के तीर हो, विजेता वीर सङ्गर के,
बल भुजदण्डों के हो, कर के दुधारा हो।

❀ २ ❀

आती है विपत्ति जब मित्र पै तुम्हारे कभी,
सत्वर निवारणार्थ आगे वहाँ आते तुम।
करते अजस्र अविराम प्रेम-व्यवहार,
प्रत्युत अटल निज दया-छत्र छाते तुम।
देखते उसीका मुख फूल सा खिला जो कभी,
'कौशलेन्द्र' फूल-फूल फूले न समाते तुम।
होते द्रवीभूत उसके लिये सदैव, यदि—,
नैन भर लाता वह, उर भर लाते तुम।

* ३ *

होते जो विलग क्षण को भी उससे कभी तो,
तुम अल्प सलिल के मीन बन जाते हो।
ध्येय है तुम्हारा वही, उसके लिए ही तुम,
कभी जग से भी उदासीन बन जाते हो।
'कौशलेन्द्र' सदा उसे रखते प्रसन्न, वह–,
मृग बनता तो तुम बीन बन जाते हो।
दानी बन करते दया हो उस पै, तथापि–,
उसकी दया के लिए दीन बन जाते हो।

* ४ *

समझा उसी के दुख को है निज दुःख, तथा–,
उसी के सुखों में तुमने भी सुख पाया है।
'कौशलेन्द्र' सिर पै लिया, बचाया बाल बाल,
वार उसके जो कभी बाल पै भी आया है।
शोभा उसकी है तुम से तुम्हारी उससे त्यों,
रूप तुम हो तो वह रङ्ग मन भाया है।
देखने में भिन्न हो तथापि हो अभिन्न, तुम–,
उसमें समाये, वह तुम में समाया है।

सूक्ति-सुधा-बिन्दु

❀ १ ❀

मञ्जुल मुकुर में समाई मुख छवि जैसे,
फूल में सुगन्ध, घनमण्डल में पानी है।
सांति में छमा है, मन मानी ज्यों कुसासन में,
कल्पना में सुख, बात मौन में छिपानी है।
'कौशलेन्द्र' मनसिज मन में छिप्यो है जैसे,
चन्द्रिका धवल चन्द्रमा सों लपटानी है।
तैसे यह जग है तुम्हारी माया नाथ! तुम–,
माया में समाने माया तुम में समानी है।

❀ २ ❀

हौं तौ अनजान प्रेम रीति कछु जानौ नाहिं,
बस करि लीन्हो तुम्हें सौतिनि सयानी है।
वारों तन-मन-प्राण तुम पै सदा ही तऊ,
ऐसे निरमोही मोरी सुधि हू न आनी है।
'कौशलेन्द्र' आए हौ सनेह सरसाइबे कौं,
अब लौं तौ खूब करि लीन्ही मन मानी है।
लावौ न हमैं उर, तुम्हारे हू समैहै हाय,
मेरे उर में वियोग-वेदना समानी है।

चित्त-चोर से

१

वारा तुम पै था तन मन यह जान के कि,
तुम भी हमारी भाँति प्रणय-विभोर हो।
आ गई थी सहसा प्रतीति तुम पर, बस–,
देख के यही कि भोले भाले हो किशोर हो।
किन्तु अब हम देखने को भी तरस रहे,
किस को खबर थी कि इतने कठोर हो।
घुसने न देता तुम्हें मानस-भवन में जो,
नेक भी मैं जानता कि तुम चित्त-चोर हो।

२

ध्यान में तुम्हारे दिन रात हम लीन रहे,
तो भी हमें तुमने भुलाया, तो भुलाया क्या।
पीड़ित स्वयं थे प्रेम-पीड़ा से बहुत हम,
उस पै भी हमको सताया, तो सताया क्या।
'कौशलेन्द्र' जब वश में ही थे तुम्हारे तब,
छल बल अपना दिखाया, तो दिखाया क्या।
मन को मिला कर लड़ा कर दृगों को मेरे,
वञ्चना से चित्त यों चुराया, तो चुराया क्या।

प्रतीक्षा

* १ *

भूल ही गए क्या ? प्रेम-पात्र हैं तुम्हारे हम,
आओ प्रेमधन ! तुम्हें कब से पुकारते।
चित्त वृत्तियाँ हमारी स्वागत को आतुर हैं,
प्राण चाहते कि सब कुछ निज वारते।
'कौशलेन्द्र' दिन रात लालची विलोचन ये,
बाट जोहते हैं किन्तु नेक भी न हारते।
बार बार खुल कर बाहर विलोक लेते,
बार बार मुँद कर अन्तर निहारते।

* २ *

मानस बना है भूरि भावनाओं का भवन,
एक है निकलती तो दूसरी समाती है।
ज़ोर ज़ोर चल कर साँस देखती है राह,
जब पल को भी हमें नींद कभी आती है।
'कौशलेन्द्र' तन में प्रतीक्षा की प्रबलता से,
आतुरता इतनी अधिक बढ़ जाती है।
आठौ याम दौड़ता है रक्त नाड़ियों में, और,–
हरदम कूदती उमंग भरी छाती है।

दुखिया

१

हम दुखिया हैं, दुख ही है जग में हमारा,
मोड़ा मुँह सब ने हमें मुँह लगाने में।
दयानिधि भी दया बिसार के बने निठुर,
आया उनको भी हँसना हमें रुलाने में।
'कौशलेन्द्र' नहीं जान पड़ता है भेद कुछ,
क्यों कर लगे हैं सब हमको सताने में।
खल दल सबल लगा है शांति हरने में,
सुजन-समाज दुख-धन के बँटाने में।

२

आँसुओं से धोते हम उर की मलीनता हैं,
तो भी सब हम से घृणा ही किए जाते हैं।
करते दमन व्यसनों का दीनता से सदा,
क्षम्य हैं, तथापि हमें दोष दिए जाते हैं।
'कौशलेन्द्र' वाणी-बाण से हैं चीर देते उर,
किन्तु हम मौन हो सदैव सिए जाते हैं।
बन कर दुखिया न फिर कभी जीना पड़े,
इसी लिए हाय हम और जिए जाते हैं।

❀ ३ ❀

प्राणों में सदैव हाहाकार मचा रहता है,
मानों यह मानस प्रदेश गया लूटा है।
भाग कर जायें कहाँ सूझता नहीं उपाय,
हारा बल और बाँध साहस का टूटा है।
'कौशलेन्द्र' कठिन बड़ा है पथ जीवन का,
क्या है अवलम्ब, संग भी तो हाय छूटा है।
हम हैं अभागे बड़े जग में हमारा भाग्य,
कैसा अचरज है, बिना लड़े ही फूटा है।

❀ ४ ❀

रक्त जल हो कर बहा है आँसुओं के मिस,
सूखा है कलेवर उसासों की बयार से।
प्राण हुए भार मनोवेदना के भार से हैं,
ऊब गया जी है जग-कष्ट-कारागार से।
'कौशलेन्द्र' दुख ही बदा है जब भाग्य में तो,
होगा न भला किसी के प्रेम व्यवहार से।
रोना याद आएगा पिघलने लगेगा मन,
कोई मत देखना हमारी ओर प्यार से।

विदा

* १ *

छाई उदासी थी नगर में,
घोर हाहाकार था;
था गरजता रोदन,
उमड़ता अश्रु पारावार था।
तैय्यार थे श्रीराम बन को,
सज रहा दुख साज था;
दशरथ नृपति की राजधानी—
में व्यथा का राज था।

* २ *

था ज्वलित विरहानल,
हवा थी सर्द आहें भर रही;
करुणा विलखती थी स्वयं ही,
मौत भी थी मर रही।
ऐसे समय में भानुकुल-मणि—
प्रेम-मग्न चले वहाँ;
लेने विदा रनवास में,
थीं मातु कौशिल्या जहाँ।

* ३ *

छू कर चरण नतमुख हुए वे,
विद्ध मे वर बोल थे;
नीरज नयन जल पूर्ण धूमल–
अमल गोल कपोल थे।
बोलीं प्रणय–विह्वल बनी,
तन प्राण अपना वार के;
श्यामल शरीर निहार के,
मुख चूम के पुचकार के।

* ४ *

मेरा दुलारा प्राण–प्यारा!
नैन–तारा राम तू;
मैं बलि गई, क्यों आज है–
यों मलिन मुख छविधाम तू।
क्या क्षुधित है या तृषित तू,
सम्प्रति कलेऊ की नहीं;
खा ले तनिक मिष्टान्न प्यारे!
मानता मम जी नहीं।

* ५ *

कल है तुम्हारा राज तिलक,
बड़ा नगर में हर्ष है;
परिजन स्वजन प्रमुदित सभी हैं,
प्रेम है, उत्कर्ष है।
बोले ललक कर दो विदा—
माँ! यही तिलक विशेष है;
'चौदह बरस बन में रहो',
यह तात का आदेश है।

* ६ *

उनकी शुभाज्ञा पालना ही—
सर्वथा निज ध्येय है;
कर्त्तव्य से हटना मनुज को—
त्याज्य है, अति हेय है।
अतएव है कर-बद्ध विनती,
अम्ब! आयसु दीजिए;
मैं शीघ्र लौटूँगा,
न मन में नेक चिंता कीजिए।

❀ ७ ❀

वे रह गईं निस्तब्ध हो,
सुन कर कथा यह दुखमई;
प्रलयङ्करी तड़िता सघन घन में—
कड़क मानो गई।
उच्छ्वास के शीतल पवन—
भरते हृदय में पीर थे;
था विरह-वाष्प समुत्थ,
झरते नयन-नीरद नीर थे।

* ८ *

उर थाम कर फिर वे—
अगम दुख-सिंधु में बहने लगीं;
सहने लगीं भारी व्यथा,
यों राम से कहने लगीं।
जिस मञ्जु आनन से—
बिखरते थे सदा ही फूल-से;
हा! हा! उसी से आज यों,
निकले प्रचण्ड त्रिशूल-से।

❀ ९ ❀

पाकर हमें निरुपाय, दुख में–
गोड़ते हो, गोड़ दो;
अंधी बना कर हाय यों,
सिर फोड़ते हो, फोड़ दो।
छोड़ा तुम्हें हमने न, पर तुम–
छोड़ते हो, छोड़ दो;
बेटा! बुढ़ापे का सहारा–
तोड़ते हो, तोड़ दो।

❀ १० ❀

जीवन बनेगा भार सिर का–
हाय प्यारे! तुम बिना;
खाने लगेगा भवन ही–
हमको दुलारे! तुम बिना।
हो कर विलग तुम से भला–
क्यों कर हमें कल आयगी;
मैया तुम्हारी वत्स! गैया–
सी सदैव रम्हायगी।

* ११ *

क्या दैव ने मेरी भरी थी–
हाय ! गोद इसी लिए;
पाला तुम्हें क्या कष्ट सह कर–
भी समोद इसी लिए।
सुख-धन सदन में था बढ़ा,
यों आज लुटने के लिये;
तुम थे मिले तो क्या हुआ–
इस भाँति छुटने के लिए।

* १२ *

आज्ञा नृपति की है उधर,
छुटता इधर ज्यों प्रान है;
मैं हाँ करूँ कि न हाँ करूँ–
सब भाँति दुःख महान है।
छाया अँधेरा है दृगों में,
पथ कहाँ भगवान है;
उस ओर है सागर भरा,
इस ओर घोर कृशान है।

* १३ *

निज तात से हो कर विलग–
हा ! मैं सदन में, क्या करूँ;
कैसे रहेगा हाय मेरा वत्स–
वन में, क्या करूँ ।
निशि में सहेगा शीत,
आतप-ताप दिन में, क्या करूँ;
पैदल चलेगा लाल गोदी का–
विपिन में, क्या करूँ ।

* १४ *

तन तो नृपति का है तथा–
मन भी उन्हीं के हाथ है;
है जा रहा प्यारा विजन को,
कौन उसके साथ है ।
हे प्राण ! तुम पापी बड़े हो,
अब निकलते क्यों नहीं,
उस लाड़ले घनश्याम तन के–
संग चलते क्यों नहीं ।

❀ १५ ❀

इस भाँति जब शोकार्त–
जननी को विलोका राम ने;
कहते हुए यों वर वचन–
दी सान्त्वना भगवान ने।
जो सुत न निज माता पिताकी–
उचित सेवा कर सका;
निज प्रेम श्रद्धा भाव से–
मानस न उनके भर सका।

* १६ *

उस पुत्र का संसार में–
हे अम्ब, जीवन भार है;
पर क्या करूँ मैं विवश हूँ,
सब भाँति मेरी हार है।
मानूँ न आज्ञा तात की,
तो नष्ट होता धर्म है;
छोड़ूँ तुम्हें इस भाँति अब,
अति ही कठिन यह कर्म है।

* १७ *

सुन कर गिरा गंभीर वे,
कुछ धैर्य्य-पथ पर आगईं;
दुख-सिंधु में लघु तोष–
तिनके का सहारा पा गईं।
कहने लगीं आदेश पालन ही–
तुम्हारा ध्येय है;
जाओ! लगाए हूँ उपल उर से,
यही अब श्रेय है।

* १८ *

जाओ ललन! जाओ! विपिन-
की गोद हो, तुम को भली;
अब तक भरी पूरी रही मैं–
आज से विपिनस्थली।
भगवान! मेरे लाल के हों–
सफल साधन सर्वदा;
घर में रहे अथवा विजन में–
पर समोद रहे सदा।

प्रेमी

* १ *

मानस-प्रदेशों में तुम्हारा प्रेम-शासन है,
प्रेमी तुम धन्य हो, तुम्हारे ढँग न्यारे हैं।
हिंसक दयालु बन जाते तुम्हें देख कर,
द्रोह पच जाते दुष्ट द्रोहियों के सारे हैं।
'कौशलेन्द्र' प्रबल प्रतापी हो, तुम्हारे आगे,
योधा जग-विजयी, जितेन्द्रिय भी हारे हैं।
कौन कहे ? तुम से बड़ा है कोई और, जब–,
स्वयं चक्रपाणि बने चाकर तुम्हारे हैं।

* २ *

प्रेम-व्रतधारी ! तुम्हीं प्रेम की क्षुधा में कभी,
चुँगते अँगार हो चकोर बन जाते हो।
देख कर मंजु घन-माला नभमण्डल में,
तुम्हीं 'कौशलेन्द्र' मत्त मोर बन जाते हो।
मृग बन मरते तुम्हीं हो बीन-बानी पर,
तुम्हीं प्रेम-चङ्ग की सुडोर बन जाते हो।
देते हो किसी को भोले बन के हृदय-दान,
किसी को चतुर चित्त चोर बन जाते हो।

* ३ *

प्रेमधन ! होते जो न आप ही जगत में तो,
महिमा बढ़ाता कौन ईश-गुण-गान की।
रखता किसी से कोई क्योंकर सहानुभूति,
जग में न चलती प्रथा प्रणय-दान की।
'कौशलेन्द्र' पूछता न वेद औ पुराण कोई,
कौन गाँठ खोलता गहन ब्रह्म-ज्ञान की।
मिलता सुदामा सा न प्रेमी यदि श्याम को तो,
पदवी न पाते वह करुणानिधान की।

* ४ *

भावुकता-भावमय दया का पढ़ाया पाठ,
सान कर सब को समानता सरस में।
आप में हमें औ हम में दिखाया अपने को,
मोहिनी सी डाल कर किया निज वश में।
'कौशलेन्द्र' अकथ तुम्हारी महिमा है, तब–,
कैसे कुछ कह के पड़ें हम अ-यश में।
प्रेमिक ! तुम्हारे गुण गाते हम ख़ूब यदि,
डूबी होती रसना हमारी प्रेम-रस में।

विरह निवेदन

* १ *

रहते छिपे हो उर धाम में ही मेरे तुम,
तदपि तुम्हें न कभी नेक लख पाता हूँ।
बुझती बुझाये विरहानल नहीं है किन्तु,
उर पै सदैव अश्रु-सरिता बहाता हूँ।
प्रेम-कामना में गले पड़ा है वियोग हाय,
मिलता न त्राण, मैं अतीव अकुलाता हूँ।
अपनी व्यथा-कथा सुनाऊँ किस भाँति, जब–
पाता हूँ तुम्हें तो अपने को भूल जाता हूँ।

* २ *

यामिनी हिमंत की, दिवस हुए ग्रीषम के,
बन गया कानन है सुन्दर सदन का।
'कौशलेन्द्र' जीवन ही जीवन का भार हुआ,
बुन्द जल–निधि हुआ, मेरु हुआ कन का।
दैव प्रतिकूल हुआ, फूल जो था शूल हुआ,
उलटा मिला है फल प्रणय-लगन का।
ज्ञान रहा गुण का, न ध्यान रहा धीरज का,
मन रहा तन का न तन रहा मन का।

हरिचन्द की

उच्चता न होती यदि कल्पना में इतनी तो,
उच्चता बखानी जाती बस ! शैल वृन्द की।
मौलिकता होती जो न विशद विचारों में तो,
खुलती नवीनता न प्रकृति अमन्द की।
'कौशलेन्द्र' होती जो न छंदों में मधुरिमा तो,
और बढ़ जाती मञ्जु माधुरी मरन्द की।
इन्दु कहलाता भारतेन्दु आज भारत का,
फैली जो न होती काव्य-आभा हरिचंद की।

घनश्याम देखि

पीत पट वारी छवि नैननि छहरि जाति,
चमकत चहूँधा चपल विज्जु दाम देखि।
कोकिल पपीहरा उचारैं जनु बंशी धुनि,
भासै मणि-माल बकमाल अभिराम देखि।
'कौशलेन्द्र' भान होत मंजुल मुकुट को त्यों,
मोद भरे मुरवान नाचत ललाम देखि।
मघवा निठुर मेरे प्राणन को प्यासो भयो,
आली सुधि आवैं घनश्याम घनश्याम देखि।

प्रणय-नीति

उन पै अपनो मन वारिये ना
जो सनेह की जानत रीति नहीं,
जहँ नेह नए नित लागैं नएन सों
है तहँ की कछु धीति नहीं।
छल स्वारथ को है लगाव बुरो
यह प्रेम औ नेम की नीति नहीं,
उनसों हित कीन्हे कहा फल है
जिनके हित की परतीति नहीं।

निठुराई है

उन घनश्याम घाम, ताप सों बचायो सदा,
तुम घनश्याम विरहानल लगाई है।
वे हैं दयाधाम तुम नटवर लीलाधाम,
उन गुरुताई तुम पाई चपलाई है।
'कौशलेन्द्र' उनकी तुम्हारी सरवरि कहा,
नाम घनश्याम धरे कौन प्रभुताई है।
उनमें भरो है जग-जीवन अमल जल,
मीचु सम तुम में समाई निठुराई है।

सुकुमार हैं

लिखत लिखत गई हारि हौं कहाँ लौं लिखौं,
मिलत न पार दुख मन में अपार हैं।
यातैं तुम थोरे ही में दीजो समुझाय सब,
और कहियो कि बृज-बाल निराधार हैं।
'कौशलेन्द्र' कैसे हाथ में लै बाँचि पै हैं हाय,
सोचि यह उर में चुभत जनु खार हैं।
पतिया भई पहार, विरह-कथा के भार,
तुम ही सुनैयो ऊधो! श्याम सुकुमार हैं।

प्रणयोपालंभ

प्रेम करना तो है सरल सब को सदैव,
किंतु उसका बड़ा ही कठिन निभाना है।
स्वार्थ का सगा है सारा जग ख़ूब देख लिया,
भरम गवाँना ही किसी को अपनाना है।
'कौशलेन्द्र' कैसे कछु आप से कहूँ मैं, जब–,
निज भोले पन का तुम्हें सदा बहाना है।
प्यारे श्याम! हमें याद रक्खें या भुलायें आप,
किंतु हम को तो भूल गया भूल जाना है।

आशा

❀ १ ❀

बृद्ध पुरुषों का सहवास करतीं हो कभी,
रमती कभी हो तुम भोले बालपन में।
रोगियों के उर में उमङ्ग भरती हो कभी,
मौज मारतीं तो कभी भोगियों के मन में।
विषम वियोग में भी देख पड़ती हो कभी,
'कौशलेन्द्र' प्रेमियों की प्रणय-लगन में।
करतीं निवास युवकों के लोचनों में कभी,
क्वारी सुकुमारियों की चारु चितवन में।

❀ २ ❀

इन्दिरा की कीर्ति भारती की भव्य भावना हो,
शोभा स्वर्गधाम की विभूति त्रिभुवन की।
कवि को मधुर स्वप्न-तुल्य माधुरीमयी हो,
मञ्जुल अमल-आभा हीरक रतन की।
'कौशलेन्द्र' प्रतिभा प्रभा की हो अनादि शक्ति,
मञ्जु मलयानिल हो नंदन-विपिन की।
ममता जननि की हो, जीविका निधन की हो,
रति भक्त जन की हो, प्यारी प्राणधन की।

* ३ *

दीन असहायों की सहायक तुम्हीं हो देवि,
तुम्हीं दुखियों को उर लाय अपनाती हो।
धीरज बँधाती हो विपत्ति में तुम्हीं सदैव,
जग में तुम्हीं तो म्रियमाणों को जिलाती हो।
'कौशलेन्द्र' भरतीं सुधा हो सूखे मानसों में,
तुम्हीं शांति-कौमुदी की छटा छिटकाती हो।
करतीं निरंतर अमङ्गलों का नाश जहाँ–
आते दुख-द्वन्द वहाँ आगे तुम आती हो।

* ४ *

गाते हैं गुणानुवाद योगी जन देवि तव,
नित प्रति मञ्जु भाव भरे भक्ति रागों में।
कोविद कवीश कान्त कोमल पदों में सदा,
मञ्जुल मलिन्द कञ्ज पूरित तड़ागों में।
कोकिल बसंत में चकोर चाँदनी में तथा,
नीरव निशीथ समै बिरही बिहागों में।
बाँधते हैं मञ्जु स्वर लहरी गुणावली की,
होकर विभोर अनुरागी अनुरागों में।

भावोत्साहन

* १ *

बुझ रहे थे निराशा-झोकों से जो मन-दीप,
उनमें शुभाशा-चिनगारी फिर धर दी।
विरस अभावुकता कानन में, रुद्ध कंठ-
प्रणयी पिकों को रस-काकली वितर दी।
'कौशलेन्द्र' सरल अलभ्य भाव-भूषणों से,
भावुक विमंडली विमंडित सी कर दी।
निज मृदु मानस की भावना-सुरभि इस,
कलिका सी मंजुल "मुकुलिका" में भर दी।

* २ *

मधुर न होवे चाहे तो भी बात तोतली है,
हो न कलकाव्य, तो भी प्रेम की लकीर है।
गंध हीन, बिरस बतावे चाहे कोई, किन्तु,
यह एक सरस सुमन की समीर है।
गौरव घटावे इसका भले ही कोई किन्तु,
क्यों कर घटेगा यह 'द्रोपदी' का चीर है।
निकलेगी कैसे, पाठकों के मानसों से जब-
यह एक भावुक के मानस की पीर है।

परछाईं

कौन तुम? आई हो कहाँ से? किस हेतु मेरे–
संग रहती सदैव बन कर छाया हो।
पास रहते हुए भी छू न सकता हूँ तुम्हें,
क्या? किसी गुणी की इन्द्रजाल-पटुजाया हो।
'कौशलेन्द्र' जागृत दृगों का सपना ही हो, या,
मेरे पातकों की ही सजीव तुम काया हो।
किंवा भ्रमजाल में फँसाने के लिये मुझे, जो–
बैठे उर-धाम में उन्हीं की तुम माया हो॥

छाए हैं

शीतल समीरन जगाई विरहागि त्योंही,
देखि हरियाई हिय घाव हरियाये हैं।
पापिहा पुकारें पीउ, मेरो कलपत जीउ,
बरसत नीर, इत नैन झरि लाये हैं॥
'कौशलेन्द्र' चपला चमकि चमकावें चित्त,
मघवा विसासी बैर कब के चुकाये हैं।
आली लागो जरन जवासो सो शरीर, वहाँ,
छाये घनश्याम, घनश्याम यहाँ छाये हैं॥

निहारी है

अपने दिवस रैनि उनके भयेऽव आली,
साँचौं प्रेम लगन लगे की गति न्यारी है।
मन है न हाथ, मति हू न करै साथ त्यों ही,
तन उन ही के हाथ बैंच्यो व्यथा भारी है।
'कौशलेन्द्र' चाही कुसुमावलि पै छाले परे,
विधना सँयोग में वियोग रेख धारी है।
लागैं क्षण हूँ न ऐसी लागी अँखियान लाग–
जबतें लुनाई नंदलाल की निहारी है॥

ईश्वर के प्रति

* १ *

मौज करते हो तुम स्वर्ग में सदैव हम-
झेलते कसाले भव संकट सदन के।
कमला स्वयं तुम्हारी सेवा करती हैं, हम
सेवक बने हैं अबलागन के धन के।
'कौशलेन्द्र' एक तुम और एक हम तो भी,
पाले पड़ते सदैव हम ही पतन के।
जान लिया सारा भेदभाव दीनबन्धु ! हम-
दीन होगये बस तुम्हारे बन्धु बन के॥

* २ *

मेट देते हो उसी को जिसको बनाते कभी,
फिर भला कैसे तुम्हें हम पतिआयेंगे।
चाहक बना है सारा जगत तुम्हारा, हम-
भूल कर भी न नेह तुम से लगायेंगे।
'कौशलेन्द्र' चाहेंगे वही करेंगे, क्या तुम्हारी-
सर्व शक्तिमानता से हम दब जायेंगे।
विश्वनाथ तुम को भले ही कह देंगे हम,
किन्तु नाथ कह के न दास कहलायेंगे॥

आत्मानुभूति

यद्यपि सुमन में ही सदन सुगन्ध का है,
तो भी है ठहरती न वह फूल गन में।
होती है उपज धूम धार की अनल ही में,
रुकती नहीं है किन्तु वह हुताशन में॥
'कौशलेन्द्र' वाणी का निलय मौन ही है किन्तु,
वह भी न टिकती है अपने भवन में।
कैसे तब रह सकते हैं हम जगती में,
और कैसे रुक सकती है साँस तन में॥

महाश्वेता

महाश्वेता

❀ १ ❀

होकर कुपित मानो गगन पर
चढ़गया मार्त्तण्ड था।
मध्याह्न बेला थी, जगत में
व्याप्त आतप चंड था॥
तपता धरातल था तथा
गिरि-शृङ्ग जाते थे जले।
छाया छिपी थी कंदरों में
और वृक्षों के तले॥

❀ २ ❀

निस्तब्धता का था अवनि पर
व्योम पर डेरा पड़ा।
विश्राम करता था पवन भी,
देख कर आतप कड़ा॥
थे तृषित जीव अनेक
होकर ग्रस्त आतप-दाह में।
किरणें उतर आईं धरा पर
थीं सलिल की चाह में॥

* ३ *

मृगया-निरत वर वीर
चन्द्रापीड़ ऐसे काल में।
होकर तृषाकुल ढूँढ़ते थे
जल विजन विकराल में॥
दुर्द्धर्ष आतप-ताप से
मुख मञ्जु उनका म्लान था।
आखेट श्रम से हो गया
मृदु गात श्रान्त महान था॥

* ४ *

निज सैन्य से होकर विलग
वे हो रहे अति त्रस्त थे।
हय भी हुआ था श्रान्त
सेवक सकल अस्त व्यस्त थे॥
विचलित हुए न परन्तु वे
निज पूर्व अनुसंधान से।
ध्रुव धीरता धारण किये
आगे चले अनुमान से॥

* ५ *

कुछ दूर चलकर विजन में
फिर शीघ्र वे पहुँचे वहाँ।
अभिवन्द्य, नंदन-बन-विनिंदक
था मनोरम बन जहाँ॥
फूले फले थे कुञ्ज मञ्जुल
दिव्य शोभा साज था।
करता निवास निदाघ भय से
या वहीं ऋतुराज था॥

* ६ *

कुसुमित गगन-चुम्बी विटप
यों हो रहे छविमान थे।
देवाङ्गनाओं के लिए
मानो लगे सोपान थे॥
बेलें द्रुमालिङ्गित लटकती
थीं अनेक जहाँ तहाँ।
मानो पड़े थे दोल
मञ्जुल अप्सराओं के वहाँ॥

❀ ७ ❀

सुन्दर सुमन-मण्डित-लता–
मंडप कहीं द्युतिमान थे।
किम्बा तने बन देवियों के
मञ्जु पुष्प-वितान थे॥
क्षिति पर शिला-आसन पड़े
मानो रहे थे यह बता।
सौन्दर्य की शोभा बढ़ाती
है सदैव कठोरता॥

❀ ८ ❀

मुकुलित वकुल-कुल कल
कहीं सहते सुभगता-भार थे।
मृदु पवन झोकों को समुद
देते सुमन उपहार थे॥
बरबस कहीं इसका दिलाते
ध्यान मञ्जु रसाल थे।
छवि–जाल फैलाए कहीं
हिंताल, ताल, तमाल थे॥

❀ ९ ❀

शुचि सरस सुमनों की
अमल आभा कहीं पर थी छई।
खिलकर गुलाबों ने कहीं
की थी दिशा माणिक मई॥
मल्ली-लताओं को निरख
यह भ्रान्ति होती थी तथा।
मार्तण्ड भय से तारकावलि
हो छिपी उन में यथा॥

* १० *

यों राजते थे फूल नर्गिस
के कहीं क्षिति पर पड़े।
बन ने बिछाये हों पथिक
गण के लिए दृग-पाँवड़े॥
बसुधा विचुम्बित मञ्जु
कदली-कुल सुहाते थे कहीं।
मारुत-विकम्पित बंश बंशी
सी बजाते थे कहीं॥

* ११ *

छाया चतुर्दिक मोद था
बहती सुरभि की धार थी।
था लुट रहा मकरंद मंजु
मची मलिन्द पुकार थी॥
बन-विभव-गर्वित विहँग
कलरव कर रहे सानंद थे।
मद में भरे आँखें दिखाते
घूमते मृग वृन्द थे॥

* १२ *

इस भाँति छवि लखते हुए
कुछ और वे आगे चले।
सुन्दर फली लतिका-सदृश
कल कामनाओं से फले॥
साथी न कोई और था
पर संग भूरि विचार थे।
रक्षक बनें अपने वहाँ
वह ही स्वयं साकार थे॥

* १३ *

लहते हुये स्वर्गीय मोद
निदान वे पहुँचे वहाँ।
विटपालि परिवेष्टित अमल
आच्छोद सरवर था जहाँ॥
सर था कि संचित एक ठौर
प्रकृति बधू का हास था।
किंवा उतर आया धरा पर
चन्द्रमा सहुलास था॥

❀ १४ ❀

अथवा रजत गिरि ही पिघल
कर उस जगह पर था भरा।
या विश्व अभिनन्दित सुयश
ने ही धवल तन था धरा॥
दर्पण अमन्द मदन प्रिया का
था अवनि पर आ पड़ा।
था नाट्य-प्राङ्गण या कि
हूरों का विपुल हीरों जड़ा॥

* १५ *

या विश्वकर्म्मा का रचा
वह एक यन्त्र विचित्र था।
निकटस्थ-कुञ्ज द्रुमादि का
जो खींचता वर-चित्र था॥
जल रूप में छवि थी कि थी
कवि की मनोहर कल्पना।
या भूमि पर वह दूसरा
था इन्दिरा-मन्दिर बना॥

❀ १६ ❀

शोभित कहीं थे कञ्ज मञ्जु
सलिल-पटल पर खेलते।
रूठे हुए कैरव-सखाओं
को सप्रेम धकेलते॥
मधु-लुब्ध मधुकरियाँ कहीं
पड़ कर रसिक अलि-माल में।
थी छिप रहीं कल-कमलिनी
किञ्जल्क-कुन्तल-जाल में॥

* १७ *

जाती तथा आती पवन के–
संग लहर अमन्द थी।
सर-चित्र-गृह को खोलती
करती कभी फिर बन्द थी॥
मुँदता उघरता था वहाँ का
मंजु दृश्य–विलास यों।
घन-खण्ड-पूरित गगन में
मंजुल मयंक प्रकाश यों॥

❀ १८ ❀

उत्फुल्ल इन्दीवर अमल
जल पर कहीं थे लस रहे।
छबि–लुब्ध दृग ही दर्शकों के
या वहाँ थे बस रहे॥
जल-पटल-चुम्बित, नमित
द्रुम दल छवि कहीं थे छा रहे।
अथवा कहीं इस भाँति वे
थे निज तृषाग्नि बुझा रहे॥

* १६ *

लख कर मरालों को वहाँ
यह भास होता था अहा।
वे होगये इतने धवल
धुल कर उसी जल में नहा॥
दल चक्रवाकों के तटों पर
घूमते स्वच्छन्द थे।
संयोग-निधि पाकर वहाँ
वे कूजते सानन्द थे॥

* २० *

इस भाँति शोभा देख सर की
मुग्ध नृप-नन्दन हुए।
विकसित हुआ मन-कञ्ज
मंजुल और पुलकित तन हुए॥
सहसा किसी के वे बिना
उपकार उपकृत बन गये।
परिश्रान्त होकर भी अलौकिक
शान्ति सुख में सन गये॥

❀ २१ ❀

मज्जन निदान किया वहाँ
पर शमित ताप सकल हुए।
खाये समोद मृणाल मंजुल
तृस पीकर जल हुए॥
गाने हृदय ही में लगे
गुण उस प्रमोदागार के।
फबती नहीं मुँह पर प्रशंसा
यह विधान विचार के॥

❀ २२ ❀

रुक कर वहाँ कुछ देर पहुँचे
धीरता धारण किये।
निकटस्थ मंजुल कुञ्ज में
विश्राम करने के लिए॥
उस रम्य स्थल के दृश्य
मंजु उन्हें लगे अति ही भले।
लेटे बिछा कर पद्म—
पत्रासन लता-मंडप तले॥

* २३ *

एकान्त पाकर वे विचार
तरङ्ग में बहने लगे।
लहने लगे स्वर्गीय सुख
यों वर बचन कहने लगे॥
यह विजन है कि विसर्ग का
वैभव भरा आगार है।
दुख भी जहाँ बनता परम
सुख यह वही संसार है॥

* २४ *

अन्याय अत्याचार की
पड़ती यहाँ छाया नहीं।
चलती प्रपंची पामरों की
भी कपट माया नहीं॥
जलता नहीं कोई किसी
को देखकर फूला फला।
विश्वास में न यहाँ किसी
का काटता कोई गला।

* २५ *

मरता नहीं कोई यहाँ पर
है क्षुधा की मार से।
पिसता नहीं कोई तथा
दब कर कठिन ऋण भार से॥
शासन प्रकृति का है यहाँ
सर्वत्र शान्ति प्रचार है।
है धर्म शिक्षा दान
पर उपकार ही व्यापार है॥

* २६ *

सहते हुए बर्षा शिशिर
हिम-ग्रीष्म ताप जहाँ-तहाँ।
पाहन पढ़ाते पाठ
कष्ट-सहिष्णुता का हैं यहाँ॥
फल-भार से अवनत विटप
यह भाव दर्शाते भला।
जो विश्व में रहता नमित
बन कर, वही फूला फला॥

❀ २७ ❀

निज अङ्क में कण्टक छिपाए
कल कुसुम कहते यही।
जो प्यार करता पीड़कों
को भी 'सकल-प्रिय' है वही॥
यह कह रही है फूल को
तजती हुई सौरभ यहाँ।
होती उपज जिसकी जहाँ
रहता न वह संतत वहाँ॥

❀ २८ ❀

सर में मधुप-वेष्टित कमल
उपदेश यह देते कहीं।
रहते उदार जहाँ, पहुँचते
हैं सदा याचक वहीं॥
शिक्षा हमें यह दे रहे चरते-
हुए मृग-गण भले।
जग में रहे स्वाधीन चाहे
पेट तिनकों से पले॥

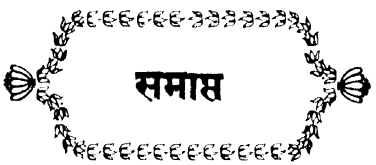
समाप्त